“HINDI AUR MARATHI DALIT ATMKATHAON KA SAMAJSHASTRIY ADHYAYAN”

Thesis submitted in Partial Fulfilment of the Requirement for the degree of “DOCTOR OF PHILOSOPHY” in Hindi

December 2022

Submitted By

CHILWANT PRAKASH GOROBA

11HHPH10

Under the guidance of

Prof. V. KRISHNA

Department of Hindi, School of Humanities
University of Hyderabad
P.O. Central University, Gachibowli,
Hyderabad-500046
Telangana State, India

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

दिसंबर, 2022

शोधार्थी

चिलवंत प्रकाश गोरोबा

11HHPH10

विभागाध्यक्ष

प्रो.गजेन्द्र कुमार पाठक
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046

शोध-निर्देशक

प्रो. वी. कृष्ण
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046

सह शोध-निर्देशक
डॉ. एम. श्यामराव
हिंदी विभाग,मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद- 500046

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500046

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**Hindi Aur Marathi Dalit Atmkathaon Ka Samajshastriy Adhyayan**" (**हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन**) submitted by **CHILWANT PRAKASH GOROBA** bearing Regd. No. **11HHPH10** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as we know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of supervisor

Signature of co-supervisor

Head of Department

Dean of the school of Humanities

DECLARATION

I, **CHILWANT PRAKASH GOROBA** hereby declare that the thesis entitled "**Hindi Aur Marathi Dalit Atmkathaon Ka Samajshastriy Adhyayan**" (**हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन**) submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. V. Krishna** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Date:

Signature of supervisor

Name- **CHILWANT PRAKASH GOROBA**

Signature of the student

Regd. No. **11HHPH10**

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI AUR MARATHI DALIT ATMKATHAON KA SAMAJSHASTRIY ADHYAYAN"** **(हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन)** submitted by **CHILWANT PRAKASH GOROBA** bearing Regd. No. **11HHPH10** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

Parts of this thesis have been:

A. Published in the following publications:

1. Shikanje ka Dard aur Ayadan me Abhivyakt Dalit Stri Jivan (ISBN No.978-62951-325-6)
2. Social Exclusion of Dalit Women in 21 Century: Strategies for Inclusion (ISSN No.2454-7131)

B. Presented in the following conference:

1. Dalit Vimarsh : Hindi tatha Marathi Natak-Rangmanch, Mahatma Basveshwar Mahavidhyalaya, Latur(National)
2. Hindi ki Sahityik Patrkarita, Hans aur Rajendra Yadav, Kashi Vishvvidyalaya, Varanasi(National)

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D. was exempted from doing coursework (recommended by Doctoral committee) on the basis of the following courses passed during his M.Phil. program and the M.Phil. degree was awarded.

Course Code	**Name**	**Credits**	**Pass/Fail**
1.01	Shodh Pravidhi	4	Pass
2.02	Adhunik Sahitya Siddhant	4	Pass
3.03	Tulnatmak Sahitya Adhyayan	4	Pass
4.04	M.Phil. Dissertation	8	Pass

Supervisor
Dept. of Hindi

Head of Department
Dept. of Hindi

Dean of School
School of Humanities

अनुक्रमणिका

भूमिका I-X

प्रथम अध्याय: -1-36

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की नयी चुनौतियाँ

(दलित विमर्श के विशेष संदर्भ में)

1.1 समाज और साहित्य अंत संबंध

1.2 पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र

1.3 दलित साहित्य का समाजशास्त्र : एक चुनौती के रूप में

द्वितीय अध्याय: -37-128

दलित साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन : वैकल्पिक चिंतन की तलाश

2.1 लोकायत/चार्वाक

2.2 बौद्ध धर्म

2.3 सिद्ध-नाथ एवं संत मत

2.4 आधुनिक चिन्तक

2.4.1 ज्योतिबा फुले एवं सावित्रिबाई फुले

2.4.2 पेरियार

2.4.3 अछूतानंद

2.4.4 नारायण गुरू

2.4.5 डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर

2.4.6 कांशीराम

2.5 दलित पैंथर

तृतीय अध्याय: -129-228

भारतीय दलित साहित्य में दलित आत्मकथा एक आलोचनात्मक दृष्टि

3.1 मराठी दलित आत्मकथाएं

3.2 हिंदी दलित आत्मकथाएं

3.3 अन्य भाषा में लिखित दलित आत्मकथाएं

चतुर्थ अध्याय: -229-274

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन

4.1 आत्मकथाओं में चित्रित देश-काल वातावरण

4.2 आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और समस्याएँ

4.3 आत्मकथाओं में दलित स्त्री जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति

4.4 आत्मकथाओं में विभिन्न जन संस्कृतियों का यथार्थ चित्रण

4.5 आत्मकथाओं में दलित आन्दोलन और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों की अभिव्यक्ति

4.6 दलित आत्मकथाओं का पाठकों पर प्रभाव

पंचम अध्याय: -275-292

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन

5.1 हिंदी दलित आत्मकथाओं की भाषा

5.2 मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा

5.3 हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन

उपसंहार -293-307

संदर्भ ग्रंथ सूची -308-317

परिशिष्ट -318-333

भूमिका

दलित साहित्य के सन्दर्भ में जिस एक बात ने वृहत पाठक वर्ग को सर्वाधिक चौंकाया और आकर्षित किया वह थीं दलित लेखकों की आत्मकथाएँ। साठ के दशक में दलित आत्मकथाओं का आना किसी जलजले से कम नहीं था। पहले यह तूफान मराठी (महाराष्ट्र) में आया फिर हिंदी साहित्य में। साहित्य में इसे हम परिवर्तन का क्रांतिकारी दौर भी कह सकते हैं। सामाजिक बदलाव की इस धारा का किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध भी। विरोध तो खास तौर से उच्च वर्ण के लोगों द्वारा हुआ चूँकि उनकी सामाजिक स्थिति को धक्का लग गया था। मुख्यधारा का हिंदी और मराठी साहित्य, साहित्य को समाज का दर्पण मानता है लेकिन क्या उस दर्पण में दलित समाज का चेहरा दिखाई देता है? नहीं..... क्योंकि हजारों वर्षों से उच्च वर्ण की गुलामी करने वाले दलितों को तथाकथित उच्च वर्ण के समाज ने बहिष्कृत कर के रखा है। इन बहिष्कृत दलित समुदाय के सन्दर्भ में कोई सवर्ण क्यों लिखेगा? और अगर कोई लिखेगा तब वह दलित समुदाय का ऐसा चेहरा सामने लायेगा जो वास्तव में होता नहीं है जैसे दलित कामचोर होते हैं, वे गंवार होते हैं आदि। लेकिन लिखने वाले सवर्ण लेखक यह नहीं सोचते कि उनकी यह स्थिति किसने की है। इस सन्दर्भ में वे खामोश बैठते हैं। इसलिए आज तक मुख्यधारा के हिंदी और मराठी साहित्य में समाज का वास्तविक चित्र सामने नहीं आया। लेकिन जब दलित लेखकों की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई तब उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र का सामाजिक इतिहास ही प्रस्तुत

कर डाला। उसके बाद ही समाज का वास्तविक चेहरा सामने आया है। इन आत्मकथाओं में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक समस्याओं का चित्रण भी लेखकों ने किया है। खास तौर से सामाजिक स्थितियों पर दलित लेखकों का ध्यान गया है। दरअसल, साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन के दो दृष्टिकोण हैं- एक, समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य का अध्ययन और दूसरा है- लेखक के सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से अध्ययन। इस अध्ययन में दोनों दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है।

भारत विविधता से सम्पन्न एवं परिपूर्ण देश माना जाता है। लेकिन इस सम्पन्नता एवं परिपूर्णता में एक खालीपन दिखाई देता है, वह अस्पृश्य लोगों का है। आज भी जाति-पाति के भेद के नीचे दबा एक हिस्सा भारत में अस्पृश्यता, भूख, दारिद्र्य के साथ संघर्ष कर रहा है। भारत को स्वतंत्रता मिली पर इन्हें आज भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिली। आज भी वे सामूहिक अन्याय-अत्याचार, बलात्कार, शोषण से पीड़ित हैं। दलित समाज को उनके अस्मिता का, उनके मनुष्य होने का, सामाजिक विषमता में उन पर होने वाले अन्याय का, अस्पृश्य जीवन की यातनाओं का तीव्र एहसास, प्रमुखतः: डॉ.बाबासाहेब के कारण ही आया है। और इसी एहसास की निष्पत्ति मराठी दलित आत्मकथाएं हैं, जो दलित जीवन के सामाजिक पक्ष को बड़ी प्रखरता से यथार्थ रूप में सामने लाने का काम करती हैं।

दलित साहित्य की शुरुआत मराठी से होती है। अत: दलित आत्मकथा का प्रारंभ भी मराठी से हुआ है। मराठी दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत गंगाधर पानतावने व्दारा संपादित पत्रिका 'अस्मितादर्श' ई.स.1976 के दीपावली विशेषांक में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद से मानी जाती है, जिसमें मराठी के प्रसिद्ध दलित लेखकों के 'मैं और मेरा जीवन' शीर्षक से संक्षिप्त आत्मकथ्य प्रकाशित हुए थे। ठीक उसी तरह हिंदी के दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत प्रसिद्ध दलित लेखकों के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद ही हुई। डॉ. आंबेडकर ने अपना कोई आत्मवृत्त नहीं लिखा लेकिन एक आत्मकथ्य जरूर लिखा था जो 'मेरा जीवन' शीर्षक से 'जनता' पत्र में 6 नवंबर, 1954 के अंक में प्रकाशित हुआ था। दलित आत्मकथा के लेखन इतिहास के बारे में यह बात स्पष्ट होती है कि डॉ. आंबेडकर के 'मेरा जीवन' नामक आत्मकथ्य लिखने के बाद आगे न उन्होंने अपने जीवन को आत्मकथा के रूप में शब्द बद्ध किया और न किसी दूसरे लेखक ने वैसा प्रयास किया है। डॉ.अम्बेडकर के देहांत के बाद लगभग बाईस साल बाद मराठी दलित साहित्य के प्रमुख लेखक दया पवार ने ई.स. 1978 में 'बलुतं'(अछूत) नामक आत्मकथा लिखी है।

दलित साहित्य ने न केवल साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है अपितु साहित्य की दुनिया को व्यक्ति, समाज, धर्म, राष्ट्र आदि को देखने और समझने की एक नयी दृष्टि दी है। दलित आत्मकथा लेखन ने साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध कर उसे एक नया आयाम दिया है। दलित साहित्य में आत्मकथाएं ही

सर्वाधिक चर्चित हैं। दरअसल, दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता है कि एक आत्मकथा मात्र उसके लेखक की, एक दलित व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होती, अपितु कहीं न कहीं वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है। क्योंकि भले ही दलित आत्मकथा में आत्मथाकार द्वारा भोगी हुई यातना, अभाव, अपमान और संघर्ष का चित्रण होता है किन्तु दलित समाज के समस्त लोग किसी न किसी स्तर पर कम या ज्यादा जातीय अपमान, घृणा, उपेक्षा और वंचना के शिकार होते हैं। इसलिए दलित आत्मकथाकार के जीवन का यथार्थ समस्त दलित समाज का सच होता है। आत्मकथा का आधार यथार्थ होता है और दलित आत्मकथाओं में समाज द्वारा दलितों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय-अत्याचार, असमानता, जातिगत भेदभाव, शोषण और अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। अधिकांश दलित आत्मकथाओं में यह सब चित्रित है, इसलिए साहित्य के साथ-साथ ये आत्मकथाएं भारतीय समाज का इतिहास भी है। दलित आत्मकथाओं में दर्ज इतिहास भारतीय समाज की उस अमानवीयता और असहिष्णुता का इतिहास है, जिसका उल्लेख इतिहास के ग्रंथों में नहीं है। इस दृष्टिकोण से देखें तो दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में मानवीय चेतना और क्रांति का सूत्रपात किया है।

'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' इस शोध विषय को हमने पांच अध्यायों में बांटा है। **पहला अध्याय** है साहित्य के '

समाजश ास्त्रीय अध्ययन की नयी चुनौतियाँ दलित विमर्श के विशेष संदर्भ : इसके अंतर्गत सबसे पहले 'मेंसाहित्य और समाज को समझने का प्रयास किया है उसके बाद पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशात्र को समझने प्रयास किया है। अंत में दलित साहित्य के समाजशास्त्र पर चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र : विकल्पित चिंतन की तलाश।' इस अध्याय के अंतर्गत दलित साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए वैकल्पिक चिंतन को समझने की कोशिश की गयी है। जिसके अंतर्गत हमने लोकायत/चार्वाक, बौद्ध धर्म, सिद्ध-नाथ-संत मत, ज्योतिबा फुले, सावित्रिबाई फुले, पेरियार, अछूतानंद, चाँद गुरू, डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर और दलित पैंथर के मतों, विचारों का विस्तार से अध्ययन किया है। अत: इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि चार्वाक से लेकर 'दलित पैंथर' तक सबका केंद्र बिंदु मनुष्य है और उस मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए सभी प्रयत्नशील हैं। ये सभी चिंतक एक ऐसी समाज व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील थे जहाँ मनुष्य के प्रति आदर हो, समाज में कोई ऊँच-नीच न हो, कोई जाति, धर्म के नाम पर किसी को नीचा न दिखाता हो। आधुनिक काल के दलित चिंतकों ने सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को भी दलित विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है। अब तक के सभी दलित चिंतकों ने दलित शिक्षा को अति आवश्यक माना है, जिससे दलित व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाता है और संघर्ष करता है।

इन्हीं के मतों एवं विचारों का प्रभाव हम दलित आत्मकथाकारों पर देख सकते हैं।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है भारतीय दलित साहित्य में दलित ' 'आत्मकथा एक आलोचनात्मक दृष्टि। इस अध्याय के अंतर्गत भारतीय दलित आत्मकथाओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया। इस अध्याय में विश्लेषित एवं नामोल्लेखित सभी भारतीय आत्मकथाओं में लेखक के जन्म से आत्मकथा लिखने तक का परिवेश सामान्य रूप से चित्रित हुआ है । लेकिन भी प्रमुख रूप से उपस्थित हैं 'वे' के साथ 'मैं'। इस परिवेश में दलितों की समस्याएँ भी हैजो आत् ,मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इनमें सबसे प्रमुख गरीबीशोषण की ,अस्थायी जीवन ,अस्पृश्यता ,शिक्षा का अभाव ,भूख , समस्याएँ हैं। दलित आत्मकथाओं में दलितत्व का एहसास होने के पीछे डॉ . बाबासाहेब के वैचारिक प्रेरणा को बहुत से लेखकों ने स्वीकार किया है। साथ ही यह आत्मकथाएँ दलित आन्दोलन एवं दलितों में मौजूद अंतर्विरोधों को भी अभिव्यक्त करती है । यह आत्मकथाएँ दलितों के लोकसंस्कृति , जिससे प्रादेशिक ,लोकविश्वास एवं लोकव्यवहार को भी अभिव्यक्त करती हैं धार्मिक आदि ,ऐतिहासिक ,भौगोलिक ,संस्कृति के साथ ही वहाँ के प्राकृतिक स्थितियों से परिचित कराती हैं। दलित आत्मकथाएँ अनुभूति के स्तर पर ही नहीं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य से अलग प्रकार की है । आत्मकथाओं की भाषा दलितों के जीवन से जुड़ी हुई हैजो , सहज और सरल है। जिसमें दलितों के जीवन में व्याप्त श्लील, अश्लीलगाली ,

गलोज भरे शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही जाति के नाम पर सवर्णों द्वारा दी जानी वाली गालियाँउनका दलितों के साथ बात करने का तरीका आदि , को चित्रित किया गया है। लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का भी इन आत्मकथाओं में प्रयोग हुआ है। अंततः हम कह सकते हैं कि भारतीय दलित आत्मकथाएँ दलितों की वास्तविकता का जीवंत दस्तावेज हैजिसको अभिव्यक्त करते , लेखिका आक्रोशित एवं विद्रोही हो जाते हैं/कभी लेखक-हुए कभी। लेकिन यह आक्रोश और विद्रोह शोषणअत्याचार एवं समग्र विषमता के -अन्याय , के नजदीक ह (समानता)खिलाफ है और समता है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसको हमने छ: भागों में बांटा है। पहले भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाओं में चित्रित देशकाल वातावरण'। इसके अंतर्गत दलित आत्मकथाओं में चित्रित देशकाल वातावरण को दिखाया गया है। जिसके अंतर्गत हम देख सकते है कि 1978 से दलित आत्मकथाएं लिखी जा रही है और अभी 2022 तक भी लिखी जा रही है। इसी की चर्चा इस भाग में की गयी है। इस अध्याय के दूसरे भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और समस्याएँ'। इसके अंतर्गत हम देख सकते है कि मराठी और हिंदी दलित आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और उनकी समस्याएँ हैं। जिसके अंतर्गत दलित समाज को ग़रीबी के कारण मूलभूत सविधाएँ- रोटी, कपड़ा, मकान भी न मिलने के वास्तव को हमारे

सामने रखती हैं। लगभग सभी दलित आत्मकथाओं में भूख और ग़रीबी का विदारक चित्रण हुआ है। इस अध्याय के तीसरे भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं में चित्रित दलित स्त्री जीवन का यथार्थ'। इसके अंतर्गत हम देख सकते हैं कि हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री बहुत संघर्षशील दिखाई देती है। वह दोहरा शोषण झेलते हुए भी अपने पूरे परिवार के लिए दिन-रात परिश्रम करती हुई दिखाई देती है। दलित स्त्री मेहनत से कभी-भी नहीं कतराती वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलकर काम करती है। बहार काम करने के बाद घर का भी काम वह करती है। फिर भी दलित स्त्री को कुछ दलित पुरुष से उपेक्षा ही झेलनी पड़ती है। दलित स्त्री समाज और परिवार से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। चौथे भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाओं में विभन्न जन संस्कृतियों का यथार्थ चित्रण'। इसके अंतर्गत हमने आत्मकथाओं में चित्रित सभी जातियों की परंपरा, रस्म-रिवाज, भाषा, लोक विश्वास, विवाह पद्धति, देवी-देवता, त्यौहार, अन्त्यविधि आदि का संक्षिप्त में परिचय दिया है। इस अध्याय के पाँचवें भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं में दलित आन्दोलन एवं डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों की अभिव्यक्ति'। इसके अंतर्गत हमने दलित आन्दोलन और डॉ.बाबासाहेब के विचारों का दलितों लेखकों पर पड़े प्रभाव को एवं आत्मकथाओं में चित्रित उसकी अभिव्यक्ति को विस्तृत रूप से देखने का प्रयास किया है। इस अध्याय के छटे भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं

का पाठक पर प्रभाव'। इसके अंतर्गत हमने आत्मकथाओं का पाठकों पर प्रभाव किस रूप में पड़ा है इसके ऊपर चर्चा की है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसको हमने तीन भागों में बांटा है एक, 'हिंदी आत्मकथाओं की भाषा', दो, 'मराठी आत्मकथाओं की भाषा' और तीन, 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसके अंतर्गत हम देख सकते हैं कि दलित लेखकों ने अपनी प्रादेशिक भाषा को गौरांवित करते हुए अपने-अपने साहित्य को समृद्ध किया है। साहित्य के सम्प्रेषण में अनुभूति पक्ष जितना महत्त्वपूर्ण होता है, उतना ही अभिव्यक्ति पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता। इस अभिव्यक्ति पक्ष की महत्त्वपूर्ण इकाई भाषा है। साहित्यकार की भाषा उसने जहाँ से अनुभवों को ग्रहण किया है, वहाँ से संबंधित होना आवश्यक है। दलित जिस भाषा में जीते हैं, रहते हैं उसी में अपनी स्मृतियों एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति करते हैं। जिसमें गाली-गलोच, शारीरिक गुप्तांगों के नामों का आना उनके लिए साधारण सी बात है चूँकि वे शब्द, वह बोली उनके जीवन का अभिन्न अंग है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विषय चयन में मेरे शोध निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर प्रो. वी. कृष्ण जी ने सहर्ष सहमति दी तथा इस शोध कार्य को सुनिर्दिष्ट रूप देने में समय-समय पर मार्गदर्शन किया। जिसके लिए मैं उनका हृदय से

आभार व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग मिलता रहे।

हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. गजेन्द्र पाठक जी ने इस शोध कार्य में समय-समय पर मार्गदर्शन एवं सलाह दी, इसलिए मैं सर का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ।

हिंदी विभाग के प्रो. सर्राजु, प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, प्रो. रविरंजन, डॉ. एम. श्यामराव, डॉ. भीम सिंह ने भी समय-समय पर इस शोध-प्रबंध के लिए महत्वपूर्ण सलाह दी जिसके कारण यह शोध कार्य पूरा हो सका। अत: मैं इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

यह शोध कार्य माता-पिता के सहयोग के बिना पूर्ण हो ही नहीं सकता था इसलिए मैं उनके प्रति सदैव ऋणी रहूँगा। साथ ही मेरे बड़े भाई विनोद चिलवंत और उनकी पत्नी अनिता, छोटे भाई विकास चिलवंत और उनकी पत्नी चित्रा और मेरी पत्नी शिवकन्या आदि के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

इस शोध कार्य को मेरे आत्मीय मित्र डॉ. शोभा बिसेन, डॉ. अमरनाथ प्रजापति, भानुप्रताप प्रजापति, आशीष साहू, प्रेमकुमार ने भी समय-समय पर सहयोग दिया। इसलिए मैं इनका ह्रदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

साथ ही साथ उन सभी मित्रों का भी मैं आभार व्यक्त हूँ जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया।

- चिलवंत प्रकाश गोरोबा

प्रथम अध्याय : साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की नई चुनौतियाँ

(दलित विमर्श के विशेष सन्दर्भ में)

1.1 साहित्य और समाज का अंत संबंध

साहित्य और समाजशास्त्र का बहुत पुराना और गहरा संबंध है । समाज जब-जब परिवर्तन का रूप धारण करता है तब-तब समकालीन लेखनी में उसका असर दिखाई देता है। वही लेखनी साहित्य और समाजशास्त्र बन जाता है। समाजशास्त्र भी अलग-अलग रूप लेकर समाज को एक नया मार्ग दिखाने का काम करता है । साहित्यकार जिस समाज में जीवन यापन करता है उसी का विरोध या गुणगान करने लगता है । साहित्य पर समाज की प्रगति निर्भर करती है । पहले तो समाज का निर्माण होता है, बाद में साहित्य की प्रस्तुति होती है। जिस तरह समाज में बदलाव होते रहते हैं उसी तरह साहित्य में भी अलग-अलग पहलू सामने आने लगते हैं । साहित्य समाज का जीता जागता इतिहास होता है । क्योंकि साहित्य अपनी गयी गुजरी हुई कोई भी छाप देखता है तो समाज को साहित्य की ओर अग्रसित होना पड़ता है । समाज के बिना साहित्य की रचना नहीं होती और साहित्य के बिना समाज अधूरा लगता है इसी के कारणवश दोनों का संबंध अटूट दिखने लगता है। लेकिन आज के समय में जब हम दलित, आदिवासी और स्त्री विमर्श को देखते हैं तो उनकी तथाकथित मुख्य धारा के साहित्य से शिकायत है कि उसमें उनका मूल्यांकन तटस्थता के साथ नहीं हुआ है। और सही मायने में देखा जाय

तो अब तक के (भारतीय) साहित्य में दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श का सही चित्रांकन एवं मूल्यांकन नहीं हुआ है। वैसे तो कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है लेकिन उस दर्पण में दलित, आदिवासी एवं स्त्री का चेहरा नदारद है। अतः ये विमर्श उस दर्पण में अपना चेहरा देखना चाहते हैं। इसलिए जब 20 वीं शदाब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय साहित्य जगत में दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श आया तब साहित्य जगत में हलचल सी मच गयी थी क्योंकि "साहित्य के इस नए सृजन और चिंतन ने अब तक के बने-बनाये समस्त सौंदर्यशास्त्रीय ढांचे और परम्परागत इतिहास-बोध पर प्रश्न चिन्ह-सा लगा दिया है। इसका कारण भारतीय समाज की अनोखी संरचना, अमिट बनावट और तदजनित सोच है। मार्क्सवादी साहित्य की तरह समाजशास्त्रीय सरोकारों को लेकर चलनेवाले इस साहित्य का संबंध सीधा समाज से है। इसकी चिंता और चिंतन के केंद्र में भारतीय समाज व्यवस्था और उसमें अवस्थित व्यक्ति और वर्ग की नियति-प्रकृति है।"[1] उपरोक्त सन्दर्भ हरिनारायण ठाकुर ने दलित साहित्य के सन्दर्भ में दिया है लेकिन यह आदिवासी एवं स्त्री विमर्श पर भी लागू होता है क्योंकि ये भी भारतीय समाज व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं। इसलिए "आज के बदलते परिवेश में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श का चर्चा के केंद्र में आना तथा स्त्री, दलित और आदिवासी समुदाय का समाज के केंद्र में आना हमारे सामाजिक-आर्थिक विकास और दलित-स्त्री नवजागरण की चेतना का परिणाम है जो हजारों साल से गुमशुदा अस्मिताओं का आंदोलन बन कर

सामने आया है। अब उसे अनसुनी नहीं किया जा सकता। अब यह स्पष्ट है कि जातिवाद से जर्जरित इस देश की सामाजिक संरचना में कोई भी परिवर्तनकामी सामाजिक आंदोलन, अंबेडकरवाद और उनके प्रभाव में लिखे जा रहे दलित साहित्य की उपेक्षा कर सफलता अर्जित नहीं कर सकता।"2(उत्तरशती के विमर्श- चौथीराम यादव, भूमिका) चौथीराम यादव के इस वक्तव्य से यह तो साफ-साफ जाहिर हो रहा है कि आज दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, और अगर इसमें पसमांदा विमर्श – जो अंबेडकरवाद से प्रेरणा ग्रहण करता है- को जोड़ दिया जाय तो यह सभी अस्मितावादी विमर्श भारतीय समाज और साहित्य में व्यापक क्रांति की पहल कर चुके हैं । यह एक सामाजिक क्रांति है – जो मानवीय मूल्यों की आवश्यकता के लिए इस सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए प्रयासरत हैं। यह चारों विमर्श नए सुन्दर समाज निर्माण की कामना करते हैं। अत: ये इक्कीसवीं सदी के नए विमर्श होने के कारण और मूल रूप से ये अस्मितावादी विमर्श होने के कारण इनका समाजशास्त्रीय अध्ययन होना जरूरी है। इन चारों विमर्शों को साहित्य जगत में अपनी मजबूत स्थिति निर्मित करने के लिए काफी समस्याओं से जूझना भी पड़ा है। लेकिन जब हम इन साहित्यिक विमर्शों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना चाहेंगे तो सवाल उठता है कि क्या हम पाश्चात्य साहित्य के समाजशास्त्र से या भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र से इन विमर्शों का अध्ययन कर सकते है? और अगर कर सकते हैं तो किन समाजशास्त्रियों के सिध्दांतों के अनुसार चूँकि साहित्य

के समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु कोई मानक सिध्दांत उपलब्ध नहीं है। और अगर नहीं कर सकते तो साहित्य के समाजशास्त्रियों को इन विमर्शों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए किन-किन चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है, इसको हम इस अध्याय में देखेंगे। इसके लिए सबसे पहले पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र को समझना जरूरी है।

वैश्विक साहित्य में 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक घटना यह भी घटी कि साहित्य में सामान्य जनता भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगी । साहित्यकार साहित्य की रचना बिल्कुल तटस्थ होकर करने लगा । अपनी रोजी-रोटी को ही दृष्टि में रखकर नहीं, बल्कि साहित्य के ऐसे पक्षों की ओर ध्यान देने लगा जो कि मानवीय संबंधों और समाज की संरचना के विश्लेषण से भी संबंधित थे । साहित्य के इन्हीं सामाजिक स्त्रोतों और सन्दर्भों की छानबीन के क्रम में साहित्य के समाजशात्र का जन्म हुआ ।

विवेचन-विश्लेषण के चार स्तर पर सामाजिक संरचना एवं सामाजिक प्रक्रिया को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय मनुष्य को ही है जो कि एक सामाजिक प्राणी होने के साथ ही समाज की प्रमुख इकाई भी है। सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य के चिंतन को विकसित किया। जिसके फलस्वरूप वह अपनी सामाजिक स्थितियों को सुधारने एवं समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर अपने जीवन को पुनर्व्यवस्थित करने लगा। आज

वैज्ञानिक चिंतनधारा के विकास के कारण ही समाज की प्रत्येक प्रक्रिया वैज्ञानिक विवेचन व विश्लेषण का विषय हो सका है। इसी कारण विद्वानों ने सामाजिक संरचना और उसकी प्रक्रियाओं का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करना उचित समझा।

1.2 पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र

आगस्त कॉम्ते(1798-1857) को समाजशास्त्र का जनक माना जाता है। जिन्होंने समाजशास्त्र से संबंधित कुछ नियम बनाकर उन्हें व्यवस्थित दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया। वे एक प्रगतिशील समाज की कल्पना करते थे। फलस्वरूप उनके समाजशात्र से संबंधित दो दृष्टियाँ सामने आती हैं -

१) सामाजिक स्थितिशास्त्र(social statics)

२) सामाजिक गतिशास्त्र(social dynamics)

सामाजिक स्थितिशास्त्र में वे समाज के संगठन एवं स्थिरता संबंधी नियमों की खोज करते हैं, वहीं सामाजिक गतिशास्त्र में समाज को व्यवस्थित बनाकर उसका विकास एवं प्रगति चाहते हैं। वे समाजशास्त्र को सामाजिक नियोजन एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के विज्ञान के रूप में देखते हैं। कॉम्ते इस महान कार्य के संपादन हेतु वैज्ञानिक, कलाकार, कवि, चिकित्सक, गायक, नर्तक आदि विविध वर्गों की सेवाओं को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इन्हीं के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कुछ अन्य विद्वानों ने भी समाजशास्त्र की ओर ध्यान दिया। परंतु कॉम्ते से पहले अठारहवीं सदी में ही फ्रांस की साहित्यालोचक 'मादाम द स्तेल'(1766-1817) थीं, जिनको प्रो.रेनेवेलेक ने प्रथम महिला आलोचक कहा है। फ्रांस में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की परंपरा व्यवस्थित रूप में मादाम द स्तेल की पुस्तक –'Literature considered in its relation with social institution।'(सामाजिक संरचनाओं से साहित्य के संबंध पर विचार) से शुरू हुई। स्तेल ने समाज और साहित्य के संबंधों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि साहित्य पर धार्मिक एवं राजनीतिक धारणाओं का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'डी ला लिटरेचर'(साहित्य) में उन्होंने लिखा है कि 'उनका उद्देश्य है धर्म, रीति-रिवाज एवं कानून के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना।' इस सिलसिले में वे हर्डर(1744-1830) की तरह भूगोल, जलवायु एवं तदनुसार सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थितियों के साथ साहित्य रचना का संबंध जोड़ती हैं।

स्तेल के बाद सामाजिक स्थितियों की गहराई में पैठकर गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने एवं उसे आत्मसात कर साहित्य के समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय 19 वीं शदाब्दी के प्रथमार्द्ध के फ्रेंच विद्वान 'इप्पोलाईत तेन' (1828-93) को है। वे साहित्य को समाज का दर्पण मानते

हैं। वे साहित्य के मूल्यांकन हेतु 'प्रजाति, काल और पर्यावरण' का त्रिक सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। साहित्य सर्जन में इन तीनों की भूमिका को उन्होंने महत्त्वपूर्ण माना है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख विचारकों में तेन के पश्चात् का मार्क्स (1818-1883) एवं फ्रेडरिक एंगेल्स(1820-1865) ने कला को भौतिक एवं आर्थिक कारणों से संबंधित कर चिंतन को नयी दिशा प्रदान की। मार्क्स से पूर्व एड्म्स्मिथ, फर्ग्युसन, बेलिंस्की, चर्नेवस्की, द्रोबोल्युवोव जैसे विचारकों ने अपने कला संबंधी विचारों में भौतिकवादी चिंतन को स्थान दिया।

कार्ल मार्क्स अपने ग्रन्थ में इस मान्यता को स्थापित करते हैं कि "साहित्य एवं कला-विचारधारा का एक ही रूप है जो समाज के आर्थिक एवं भौतिक जीवन से उत्पन्न व आधारित है"[3] समाजशास्त्र को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विचार करते हुए एक नवीन रूप प्रदान करने का श्रेय जार्ज लुकाच एवं लुसिए गोल्डमान जैसे मार्क्सवादी चिंतकों को दिया जाता है। लुकाच के अनुसार साहित्य का रूप तथा नियम यथार्थत: वस्तुपरक जीवन की मूल गतियों से निर्धारित होता है। उनकी दृष्टि में समस्त साहित्य संघर्ष की दृष्टि से लिखा जाता है। साहित्य की समाजशास्त्रीय पद्धति को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने हेतु हंगेरियन विद्वान लुसिए गोल्डमान 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की अवधारणा को प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता है कि 'किसी भी कृति को अकेले कृतिकार के सदंर्भ में देखने की अपेक्षा एक सामाजिक वर्ग

की विश्वदृष्टि या समग्रता में देखना चाहिए जो कि कृतिकार के दृष्टिकोण एवं मानव संरचनाओं के निर्माण में सहायक होती है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण को अपनाया और उसे पद्धति के रूप में विकसित किया। समाजशास्त्रीय पद्धति के निरूपण हेतु इन सभी विचारधाराओं को 'एलनस्विंगवुड' ने दोभागो में विभाजित किया है-

(क) प्रथम विचारधारा को वे प्रत्यक्षवादी की संज्ञा प्रदान करते हैं जो साहित्य को समाज का दर्पण मानकर उसे बाह्य कारकों यथा भौगोलिक, जलवायु, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारकों का परिणाम व प्रतिबिम्बन मानते हैं। मादाम द स्तेल, एच.तेन की विचारधारा में इसका प्रारंभिक रूप तथा मार्क्सवादी विचारधारा में इसका परिष्कृत रूप लक्षित होता है। इसके अंतर्गत अन्य विचारक हैं- डी.बोनाल्ड, जेम्सराईट, विसो, हर्डर, मार्क्स और एंगेल्स , प्लेखानोव, लेनिन, माओत्सेतुंग, मैक्सिम गोर्की आदि।

(ख) द्वितीय विचारधारा साहित्य विश्लेषण को बाह्य कारकों की अपेक्षा कृति को अध्ययन बिंदु मानकर उसकी आंतरिक संरचना एवं उसको विभिन्न इकाइयों की संरचना एवं प्रकार्यात्मक संबंध के अध्ययन पर बल देती है। इसमें कृति के माध्यम से समाज, साहित्य सृजन की प्रक्रिया के निर्धारक आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों का अध्ययन तथा उसके उत्पादन, उपभोग एवं वितरण की प्रक्रिया को बोधगम्य बनाया जाता है। ऐसे

विचारकों में काडवेल, जार्ज लुकाच, लुसिए गोल्डमान, एच.डी.डंकन, एल.शूकिंग, एस.सी.ब्रेख्त, रेनेवेलेक, जिम्स.एच.बर्नेट, राबर्ट एस्कारपिट, रूचेक, एलनस्विंगवुड, डायना लारेन्स आदि प्रमुख हैं।

यद्यपि भारतीय सन्दर्भ में इस विषय पर बहुत अधिक काम नहीं हुआ है तथापि कुछ विद्वानों द्वारा किया गया प्रयास विचारणीय है। सबसे प्रथम डॉ.डी.पी.मुखर्जी एवं राधाकमल मुखर्जी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डी.पी. मुखर्जी ने अपने पुस्तक 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र'(Sociology of Indian Literature) में इस तथ्य को स्वीकार हैं कि "संचार का माध्यम होने के कारण साहित्य से संपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया का बोध संभव है।"[4]

राधाकमल मुखर्जी कला के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय उपागम तथा कला के सामाजिक कार्यों का विश्लेषण अपने 'द सोशल फंक्शन आफ आर्ट' में करते हुए इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि- "कलाकार की सामाजिक और वैचारिक पृष्टभूमि, कला की परम्परा, कला के मौलिक उपलब्धियों तथा कला की स्वीकृति और अस्वीकृति का अध्ययन आवश्यक है।"[5]

गजानन माधव मुक्तबोध के अनुसार- "साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है।---आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक

विवेचन की संपूर्ण एकता रहे”[6] मुक्तिबोध कहते हैं- “किसी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरुप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आंतरिक तत्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं? किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?”[7]

बोटोमोर इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि- “समाजशास्त्र की उचित पद्धतियों के बारे में बहुत विवाद रहा है और प्रत्येक समाजशास्त्रीय सिद्धान्तकार का झुकाव विषय के प्रति नई पद्धति को प्रस्तावित करने की ओर रहा है”[8] सच्चाई कुछ भी हो परंतु एक बात स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है कि समाजशास्त्री इस सन्दर्भ में जागरूक रहे हैं कि विषय के अध्ययन को अधिक वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाली प्रणालियों का विकास किया जाय।

इन सभी विद्वानों के मतों के विश्लेषण के बाद यह तथ्य सामने आता है कि संपूर्ण विचार विमर्श के केंद्र में मुख्यतः तीन पक्ष है, जो संपूर्ण साहित्य प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। वे हैं- लेखक, कृति और पाठक।

साहित्य की प्रक्रिया को समग्रता से समझने के लिए इन तीनों के आपसी संबंधों का बोध आवश्यक है। अतः साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिए उसके भीतर समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या में सक्रिय मुख्य तीन दृष्टियाँ है-

1)साहित्य में समाज की खोज

2) समाज में साहित्यकार और साहित्य

3) साहित्य और पाठक के संबंध का विश्लेषण।

इन मुख्य तीन दृष्टियों को ही लेकर भिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन को अलग-अलग नाम दिये। सभी ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य और समाज के संबंधों को इन्हीं तीनों के आधार पर विश्लेषित कर पद्धति के रूप में एक नया नाम दिया।

डॉ. विश्वम्भर दयाल गुप्ता[9] ने अपने पुस्तक में समाजशास्त्र की तीन पद्धतियों के बारे में विवेचन किया है-

1) ऐतिहासिक (Historical Method)

2) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)

3) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति(Structural-Functional Method)

ऐतिहासिक पद्धति: "अतीत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं, सामाजिक संबंधों, समाज एवं संस्कृति के सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन हेतु जिस पद्धति का प्रयोग हुआ है उसे ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं।"[10] काम्ते, हाबहाउस, कार्ल मार्क्स एवं उनके अनुयायियों की विचारधारा में इस पद्धति को महत्त्व मिला है। साहित्य का समाजशास्त्री अतीत के आधार पर वर्तमान को समझने तथा भविष्य की दिशा-निर्धारण हेतु महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपलब्धि कर सत्य की खोज में कार्यरत रह सकता है। साहित्यिक कृतियाँ प्रलेखीय स्त्रोत के रूप में दस्तावेज का कार्य करती हैं। रेनेवेलेक की मान्यता है कि- "कलाकार सत्य का वाहक होता है और अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक और सामाजिक सत्यों का भी वाहक होता है। कलाकृतियाँ दस्तावेज का काम करती हैं, क्योंकि वे अपने आप में स्मारक हुआ करती हैं।"[11] मैक्स वेबर ने पूंजीवाद की उत्पत्ति और विकास, आधुनिक नौकरशाही का विकास आदि में ऐतिहासिक पद्धति का सार्थक प्रयोग किया है। संक्षेप में इस पद्धति का प्रयोग साहित्य तथा वर्तमान स्वरूप के निरूपण हेतु कर सकते हैं -

क) साहित्य के क्रमिक विकास को ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में ग्रहण कर साहित्य में वर्णित, उसकी उत्पत्ति एवं विकास तथा वर्तमान स्वरूप के निरूपण हेतु तथ्यात्मक अध्ययन।

ख) साहित्य संस्था की उत्पत्ति एवं विकास तथा उसके ऐतिहासिक परिवर्तनों का विश्लेषण।

ग) साहित्य संरचना की निर्णायक इकाइयों, उनके पारस्परिक संबंधों तथा उनक स्वरूपों व संबंधों में होने वाले परिवर्तनों एवं साहित्य सृजन में उनकी स्थिति एवं भूमिका का क्रमिक अध्ययन आदि।

तुलनात्मक पद्धति: समाजशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति के रूप में तुलनात्मक पद्धति को काफी महत्त्व मिला है। बोटोमोर के अनुसार "19 वीं शताब्दी में इस पद्धति को सामान्य प्रयोग की पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया।"[12] मानवशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त इस पद्धति का प्रयोग काम्ते, स्पेंसर, दुर्खिम, मैक्सवेबर, पारसन्स आदि के अध्ययनों में व्यापक रूप से हुआ है। मानवशास्त्री हार्श कीविडस ने इस पद्धति की व्याख्या करते हुए कहा है कि उसके अंतर्गत "व्यक्तियों के मध्य पाये जाने वाले स्वरूपों की तुलना के द्वारा मानवीय संस्थाओं तथा विश्वासों के उद्विकासीय क्रम को स्थापित किया जाता है।।"[13] प्रमुख संस्थाओं के पारस्परिक संबंध, परिवर्तनों उनके प्रभाओं के व्यवस्थित अध्ययन में यह पद्धति उपयोगी होती है। हाबहाउस, व्हीलर तथा जिन्सबर्ग के आदिम समाजों की प्रमुख संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन का ही परिणाम है। इस पद्धति की सार्थकता इस प्रकार है-

क) मौखिक साहित्य में स्थापित विचारों तथा लिखित साहित्य में स्थापित विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, ताकि साहित्यिक निरंतरताओं की खोज संभव हो सके।

ख) समकालीन विविध साहित्यिक विधाओं के स्त्रोत, पारस्परिक संबंध , लोकप्रियता एवं प्रभाव के कारकों का अध्ययन। ग) विभिन्न भाषाई, क्षेत्रीय एवं युगीन साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सामान्य प्रवृतियों की खोज।

घ)लेखक, प्रकाशन, पाठक, आलोचक की सामाजिक स्थिति, युगीन मान्यताएँ एवं उतार-चढ़ाव, पारस्परिक सहयोग एवं संघर्ष का अध्ययन।

ड) साहित्यिक मानदंडों व अंतर्वस्तु के आधार पर विश्वसाहित्य के आधारों की खोज आदि।

संरचनात्मक-कार्यात्मक पद्धति- संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति की दो आधारभूत अवधारणाएं - संरचना एवं प्रकार्य हैं जो समाजशास्त्रीय अध्ययन को किसी भी सामाजिक इकाई की पारस्परिक अन्तःसंबंधों, उसकी स्थिति तथा भूमिका द्वारा समाज को दिये योगदान तथा उनके अन्तःसंबंधित प्रतिमानों की क्रमबद्धता के अध्ययन पर केन्द्रित करती है। जॉन्सन के अनुसार – "किसी भी वस्तु की संरचना उसके अंगों के मध्य विद्यमान अपेक्षाकृत स्थिर अंतःसंबंधों से बनती है, अंग शब्द स्वयं ही किसी मात्रा तक स्थिरता का परिचय करता है। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण व्यक्तियों की अन्तःसम्बंधित क्रियाओं से निर्मित होने कारन उसकी संरचना को इन क्रियाओं को नियमितता या पुनरावृत्त कार्यों में खोजनी चाहिए।"[14]

जॉन्सन संरचना के अंतर्गत विद्यमान प्रमुख तत्वों में निम्नलिखित बिन्दुओं को शामिल करते हैं-

क) नियमों से संबंधित उपसमूहों।

ख) बृहद तंत्र और उपसमूहों मध्य पाये जाने वाले विविध प्रकार के कार्य।

ग) उपसमूहों एवं कार्यों को नियमित करने वाले नियम।

घ) सांस्कृतिक मूल्य।

रैक्लिफ ब्राउन के शब्दों में "संरचना इकाइयों के मध्य संबंधों का प्रतिमान है।"[15]

'प्रकार्य' किसी विशिष्ट सामाजिक प्रचलन का वह योगदान है जो कि सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता की रूप में सामाजिक जीवन को प्रदान करता है। मर्टन के अनुसार –" प्रकार्य वे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी समाज के अनुकूलन या सामंजस्य में सहायक होते हैं।"[16] प्रकार्यवाद एक तटस्थ विचार, सिद्धांत और पद्धति है जिसका प्रयोग सामाजिक संरचनाओं और उनकी स्थिति व भूमिका, परिणाम व कारण को समझने में सहायक होता है। साहित्य संस्था की संरचना एवं प्रकार्य के विश्लेषण हेतु इस पद्धति की ओर साहित्य के समाजशास्त्रीयों का ध्यान आकर्षित हुआ है। साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण हेतु एच.डी.डंकन ने सर्वप्रथम साहित्य रूपी संस्था की संरचनात्मक इकाइयों एवं उनकी अंतःक्रियाओं के अध्ययन का आधार

प्रस्तुत किया। लुसिए गोल्डमान भी अपने 'उत्पत्तिमूलक संरचना' की अवधारणा को कृति की आंतरिक संरचनाओं के विश्लेषण पर ही केन्द्रित करते हैं। एम.सी. अल्ब्रेख्त अपने 'आर्ट एज एन इंस्टीट्युशन' निबंध में साहित्य की संरचना एवं प्रकार्य विश्लेषण का सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत कर संरचनात्मक-प्रकार्यवाद अध्ययन की ओर प्रेरित करते हैं।

उपर्युक्त समाजशास्त्रीय पद्धतियां साहित्य को समग्र रूप में विश्लेषित करने में सक्षम प्रतीत होती है। साहित्य अध्येता इन पद्धतियों की आधारभूत मान्यताओं के आधार पर वस्तुनिष्ट निष्कर्षों की प्राप्ति तथा साहित्य सृजन की प्रक्रिया को समझने में सफल हो सकता है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोणों के आधार पर अपनी पद्धतियों का निर्माण किया जिसका विवेचन में इन तीनों- लेखक, कृति और पाठक- में से कोई एक केंद्र में रहता है। परन्तु आगे चलकर इन भिन्न धाराओं में से कुछ धाराओं को साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में मान्यता मिली, जिन्हें अध्ययन हेतु परवर्ती समाजशास्त्रियों ने अपनाया। इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न निकायों की स्थापना हुई।

डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने कहा है कि – "आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दो धाराएँ हैं। एक धारा में, साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। उसे हम मीमांसावादी धारा कह सकते हैं। दूसरी में, साहित्य की सामाजिक स्थिति का विवेचन होता है। वह

अनुभववादी धारा है। मीमांसावादी धारा के अंतर्गत मार्क्सवादी, आलोचनात्मक समाजशास्त्री और संरचनावादी दृष्टियाँ सक्रिय हैं तो अनुभववादी पद्धति में पुरानी विधेयवादी दृष्टि के साथ-साथ संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टियाँ सक्रिय दिखाई देती हैं।"[17]

मीमांसावादी धारा: साहित्य के समाजशास्त्र की मीमांसावादी धारा के अंतर्गत कृति विवेचन के केंद्र में होती है। मीमांसावादी साहित्यिक कृति के विशिष्ट स्वरूप को महत्त्व देते हैं, इसलिए उनके सामने कृतियों के चुनाव की समस्या होती है। वे गंभीर और सतही साहित्य में फर्क करते हैं। मीमांसावादी समाजशास्त्री के सामने कृति में समाज की अभिव्यक्ति की विवेचना की समस्या होती है। कृति में समाज यथार्थ-चित्रण के रूप में व्यक्त होता और सामाजिक चेतना के रूप में भी। कुछ समाजशास्त्री यथार्थ-चित्रण पर बल देते हैं कुछ सामाजिक चेतना के विश्लेषण पर। सामाजिक चेतना विचारधारा या विश्वदृष्टि के रूप में व्यक्त होती है। यहाँ सवाल उठता है कि विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति किस रूप में और किस स्तर पर होती है। गोल्डमान किसी साहित्यिक कृति की संरचना में विश्वदृष्टि की खोज करते हैं। मीमांसावादी समाजशास्त्र के अंतर्गत साहित्यिक कृतियों के पाठकीय अभिग्रहण और पाठकीय प्रतिक्रियाओं का भी विवेचन होता है। लियो लावेंथल ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके साथ मीमांसावादी प्रकृति, समाज और चेतना के विकासशील संबंध की व्याख्या के लिए सैद्धांतिक ढ़ांचे का निर्माण आवश्यक मानते हैं।

अनुभववादी धारा: मीमांसावादियों के विपरीत साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में काम करने वाले अनुभववादी विचारक सिद्धांत-निर्माण के प्रयत्न को आवश्यक मानते हैं। वे प्रतीति और अनुभव से प्राप्त तथ्यों को महत्त्व देते हैं। अनुभववादी इन्द्रियबोध, प्रतीति और अनुभव पर जोर देते हैं, जिसके व्याख्यात्मक समझदारी की उपेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में यथार्थ का अधूरा बोध होता है। इस संबंध में मार्क्स ने लिखा है कि – "अगर वस्तुओं की प्रतीति और यथार्थ में हमेशा तात्कालिक समरूपता होती तो विज्ञान अनावश्यक होता।"[18] पक्का अनुभववादी दृष्टिकोण अपनी मूल्यमूढ़ता के कारण समाज में मौजूद पीड़ा, गुलामी, मूल्यों के परस्पर विरोध, विचारधाराओं की टकराहट और वर्गों के संघर्ष में तटस्थता की वकालत करता है।

कुछ लोग विधेयवाद और अनुभववाद को एक समझते हैं। इस संबंध में डॉ. मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि – "आजकल कुछ लोग साहित्य के समाजशास्त्र को विधेयवादी अनुभववादी साहित्य के समाजशास्त्र का पर्याय मान लेते हैं। यह अर्द्धसत्य है। इसके साथ यह ध्यान देने की बात है कि अनुभववादी साहित्य के समाजशास्त्र का जो रूप और प्रयोजन बन गया है वही रूप और प्रयोजन आरंभिक दौर में विधेयवाद का न था।"[19] वे आगे लिखते हैं – "विधेयवादी समाजशास्त्र में कृति की अंतर्वस्तु पर ध्यान दिया जाता था, लेकिन आज के अनुभववादी कृति की उपेक्षा करते हैं। वे कृति की रचना से पहले की परिस्थितियों का विवेचन करते हैं और रचना के बाद की स्थितियों का भी। लेकिन रचना का निजी स्वरूप उनके विवेचन से छूट जाता

है। जबकि अनुभववादी कृति के निर्माण से अधिक उसके उपभोग में दिलचस्पी रखते हैं।"[20] इन दो धाराओं के संपूर्ण विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि मीमांसावादी में आलोचनात्मक-समाजशास्त्री जैसे, लियो लावेंथल और संरचनावादी गोल्डमान हैं जब कि विधेयवाद और अनुभववाद एक दूसरे से भिन्न हैं। इस कारण विधेयवाद एक भिन्न निकाय है। साहित्य के समाजशास्त्र की सबसे प्राचीन पद्धति विधेयवाद है। जिसके संस्थापक तेन हैं। इसके बाद मार्क्सवाद आता है। इसके मुख्य प्रवर्तक कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स हैं।

19 वीं सदी के मध्य से मार्क्सवाद के समानान्तर समाजशास्त्र का विकास हुआ। मार्क्सवादी साहित्य चितकों में लेनिन, जी.वी. प्लेखानोव, ए.के. लूनाचर्स्की, मैक्सिम गोर्की, हावर्ड फास्ट, जार्ज लुकाच, लुसिए गोल्डमान आदि के नाम विशेष अल्लेखनीय हैं। मार्क्सवाद एक विस्तृत अवधारणा है। इसने समाज के हर क्षेत्र को अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है, चाहे वह धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति कोई भी हो।

कार्ल मार्क्स की मान्यता है- "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के तरीके सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक जीवन की समूची प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। लोगों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती है, बल्कि इसके प्रतिकूल उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[21] रैल्फ फॉक्स के अनुसार "जिस बात को मार्क्स और

एंगेल्स ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए सच मानते थे, कलात्मक रचनाओं के लिए भी उस सच मानते थे।"[22] यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा से आगे आने वाले सभी विद्वान प्रभावित हुए और उन्होंने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु मार्क्सवादी सूत्रों को अपनाया परंतु यह भी सत्य है कि इन विद्वानों ने अपने चिंतन से ऐसे नये सूत्रों की खोज की जिससे नए दृष्टिकोणों की स्थापना हुई। बीसवीं सदी में साहित्य का समाजशास्त्र ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप में अस्तित्व ग्रहण कर अपने स्वरूप एवं प्रकृति निर्धारित हेतु प्रयत्नशील हुआ। इसमें प्रमुख विचारकों के योगदान एवं अध्ययन के आधार पर साहित्य का समाजशास्त्र के वर्तमान एवं भावी स्वरूप को अधिक बोधगम्य बनाया जा सका। इस क्रम में 'लुसिए गोल्डमान' का 'द सोश्योलाजी आफ लिटरेचर:स्टेटस एंड प्राब्लम्स आफ मैथड' निबंध साहित्य के समाजशास्त्र में अब तक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। गोल्डमान ने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन को कृति और प्रतिबिंबित संरचनाओं के विश्लेषण पर केन्द्रित करते हुए 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की अवधारणा को प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप संरचनावाद को ठोस आधार प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्रियों के सामने अनेक दृष्टियाँ- जैसे दर्शन के क्षेत्र में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद, फ्रायड और पीजे की मनोविज्ञान संबंधी मान्यताएँ, समाजशास्त्र में अनुभववाद, आलोचनात्मक सिद्धांत, संरचनावाद आदि की चर्चा चल रही थी। इसी समय गोल्डमान जैसे विचारक ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए एक नया

मार्ग अपनाया। जिसे 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' के नाम से अभिहित किया गया।

उपरोक्त विवेचन-विश्लेषण के आलोक में निम्नलिखित तीन बिन्दुओं पर विचार करना अपरिहार्य है – विधेयवाद, आलोचनात्मक और संरचनावाद।

विधेयवाद: 18 वीं शती के प्रथम चरण में साहित्य, दर्शन, कला और अन्य क्षेत्रों में जो आलोचना-दृष्टि अपनायी गयी और जो आलोचना-सिद्धांत रूपायित किए गए, वे सरासर प्राकृतिक विज्ञानों के कारण-कार्य सिद्धांत के अनुसार निर्मित थे। यह नयी आलोचना दृष्टि थी- विधेयवाद जिसने लगभग दो शताब्दियों तक पाश्चात्य आलोचना-जगत में एकछत्र शासन किया।

साहित्य के समाजशास्त्र का व्यवस्थित रूपायन फ्रेंच समीक्षक एप्पोलाईत तेन ने उन्नीसवीं शती के प्रथमार्द्ध में किया। तेन से पूर्व जोहान जी. हर्डर(1744-1803),और मादाम द स्टेल(1766 -1817) ने इस क्षेत्र में कार्य किया था।

हर्डर जर्मनी के निवासी और प्रख्यात विचारक हैमेन के शिष्य थे। हैमेन पूर्णतया आस्तिक तथा भाषा एवं कलाओं के दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत के विश्वासी थे। हर्डर ने अपने गुरू की स्थापनाओं के विरोध में तर्क यह दिया कि साहित्य की हर कृति एक विशेष सामाजिक और भौगोलिक परिवेश से उत्पन्न होती है। हर्डर ने साहित्य के इतिहास को संस्कृति का इतिहास माना और इस प्रश्न का – कि क्यों एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ एक

विशेष प्रकार के परिवेश में ही उत्पन्न होती है और दूसरे परिवेश में टिक नहीं सकती- उत्तर खोजने के क्रम में बदलती जलवायु, भूदृश्य, वंश, रीति-रिवाज और राजनीतिक स्थितियाँ आदि तत्वों को निर्धारक माना और इस क्रम में कुछ सरलीकृत निष्कर्ष दिये।

साहित्य के समाजशास्त्रीय आधार के निर्माण में हर्डर से अधिक उत्साह का परिचय दिया फ्रांस की विदुषी और प्रथम महिला आलोचक मादाम स्ताल ने। स्ताल के चिंतन का ठोस रूप उनकी पुस्तक 'डी. ला. लिटरेचर' में मिलता है। उनका कहना है- "मैंने साहित्य पर धर्म नैतिकता और कानून के प्रभाव तथा उन सब पर साहित्य के प्रभाव की जांच-परख का प्रयत्न किया है।"[23] मादाम स्ताल ने जलवायु, भौगोलिक स्थितियों और तदनुसार सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्थितियों के साथ साहित्य का सिद्धांत जोड़ा। साहित्यिक कृति के विवेचन में जलवायु और भौगोलिक स्थितियों को निर्धारक मानकर उन्होंने पूर्णतया विधेयवादी दृष्टी का अनुसरण किया। विधेयवाद को प्रत्यक्षवाद भी कहते हैं अर्थात जिसके लिए प्रत्यक्ष प्रणाम व साक्ष्य की जररूरत हो, जैसे कि प्राकृतिक विज्ञान। अर्थात सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में किसी मुद्दे पर बातचीत करते समय प्राकृतिक विज्ञानों के सूत्रों का उपयोग किया जाना विधेयवादी पद्धति है। साहित्य के समाजशास्त्र का व्यवस्थित स्वरूप-निर्माण किया इप्पोलाईत तेन ने। तेन ने अपने साहित्यिक इतिहास 'स्टडी आफ इंग्लिश लिटरेचर' में साहित्य को सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों से जोड़ने के लिए प्रजाति,परिवेश और युग का त्रिक सिद्धांत दिया। वे 'प्रजाति'

के अंतर्गत व्यक्ति की सहज तथा वंशानुगत, मानसिक बनावट और शारीरिक संरचना आदि की चर्चा करते हैं। तेन के संदर्भ में गरिमा श्रीवास्तव कहती हैं – "तेन ने सामाजिक तथ्य और घटनाओं को साहित्यिक कृतियाँ माना और उनकी उत्पत्ति के कारणों को खोज की। यहाँ उनका कार्य-कारण सिद्धांत काम करता है। वे लिखते हैं कि तथ्यों के संग्रह के बाद हमें कारणों की खोज करनी चाहिए। तथ्य चाहे नैतिक हो या भौतिक- सबके कारण होते हैं। महत्त्वाकांक्षा, साहस,सत्य आदि सबके कारण हैं। जैसे पाचन-क्रिया और मांसपेशियों की गतिशीलता के कारण हैं। उन्होंने कला और साहित्य को समाज से उदभूत माना उनके अनुसार कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है, लेकिन उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण के सामने यह प्रश्न उठता है कि वह मानसिकता कैसे बनती है। इसी प्रश्न के उत्तर में तेन ने तीन अवधारणाओं के उपयोग का प्रस्ताव किया-प्रजाति, क्षण और परिवेश। प्रजाति, क्षण और परिवेश के बीच अंतःक्रिया एक व्यावहारिक अथवा चिंतनशील 'मानसिक संरचना' उत्पन्न करती है। यह 'मानसिक संरचना' उन बीजरूप विचारों के विकास की दिशा में ले जाती है। जो निश्चित शब्दावली और गुणों के वैशिष्ट्य के रूप में सामने आते हैं।"[24] इस प्रकार तेन मानव स्वभाव और प्रकृति परिवेश के बिच कार्य-कारण संबंध बिठाने की कोशिश करते हैं और इसके आधार पर साहित्यिक की विशेषताओं की व्याख्या करते हैं। उदहारणस्वरूप- यूनान तथा रोम के विशिष्ट प्राकृतिक परिवेश से वहाँ के निवासियों का स्वभाव बना है और उसकी अभिव्यक्ति उनकी संस्कृति, कला तथा साहित्य में

हुई है।(भारतीय साहित्य में ऐसा देखने को नहीं मिलता, उसको हम आगे देखेंगे।) तेन के अनुसार एक युग में कुछ प्रधान विचार होते हैं। उनका एक बौद्धिक सांचा होता है जो पूरे समाज के चिंतन को प्रभावित करता है।

आलोचनात्मक समाजशास्त्र: साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। फ्रैंकफूर्त समुदाय के समाजशास्त्रीय चिंतन को ही आलोचनात्मक समाजशास्त्र कहा जाता है। जर्मनी के फ्रैंकफूर्त विश्वविद्यालय में 1923 ई.स. में एक सामाजिक शोध संस्थान की स्थापना हुई थी, उसी से जुड़े हुए विचारकों के समाजशास्त्रीय चिंतन से आलोचनात्मक समाजशास्त्र का विकास हुआ।

पूंजीवादी समाजव्यवस्था में मनुष्य की दशा और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों पर विचार ही आलोचनात्मक समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य था। इसके लिए उसमें विचारधारा और उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का गंभीर विश्लेषण हुआ।

आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों की मुख्य देन है संस्कृति के समाजशास्त्र का विकास। यह काम मुख्य रूप से अडोर्नो, हावर्ट मारकुस और लियो लावेंथल ने किया। परंतु इस समुदाय में केवल लावेंथल ने ही सचेत और व्यवस्थित रूप में साहित्य के समाजशास्त्र का विकास किया। उन्होंने निरंतर साहित्य के समाजशास्त्र की सैद्धांतिक समस्यायों को सुलझाने और

व्यावहारिक विवेचन में समाजशास्त्रीय दृष्टि को विकसित करने का प्रयास किया।

लावेंथल के लेखन का लक्ष्य है साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण। लेकिन वे सामाजिकता की खोज साहित्य के विशिष्ट स्वरूप की पहचान के साथ करते हैं। उन्होंने लिखा है कि – "समाज से साहित्य के संबंध की खोज के लिए सामूहिक चेतना और व्यक्ति चेतना के बीच संबंधों की समझ जरूरी है। ऐसी समझ मनोविज्ञान से मिलती है, इसलिए मनोविज्ञान साहित्य का सहायक है।"[25] लावेंथल ने साहित्य में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के विश्लेषण के लिए विचारधारा की मार्क्सवादी धारा का उपयोग किया है। उन्होंने लिखा है कि – "भौतिकवादी दृष्टि से ही साहित्य की सही व्याख्या हो सकती है और सच्ची आलोचना विचारधारा की मीमांसा है।"[26] आलोचनात्मक समाजशास्त्र के अनुसार – "विचारधारा अनिवार्यतः छद्म सामाजिक चेतना या सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य भ्रम है।"[27] लावेंथल विचारधारा का यही अर्थ मानते हैं और इसे अपने साहित्य विश्लेषण में लागू करते हैं। वे लिखते हैं कि – "विचारधारा सामाजिक यथार्थ को रहस्य के आवरण में ढकती है, उसको रूपांतरित करती है, जिससे पूंजीवादी समाज के अंतर्विरोधों को समझना कठिन हो जाता है।--- विचारधारा की मीमांसा का लक्ष्य है सामाजिक अंतर्विरोधों और वास्तविकताओं पर पड़े रहस्य के परदों को हटाकर उनके यथार्थ रूप को सामने लाना और रचना में व्यक्त सामाजिक चेतना के वास्तविक रूप की पहचान कराना।"[28]

सहित्य के समाजशास्त्र के अध्ययन में 'रूप' और 'अंतर्वस्तु' का संबंध महत्त्वपूर्ण है। लावेंथल अंतर्वस्तु का ही अधिक विश्लेषण करते हैं, लेकिन रूप की भी उपेक्षा नहीं करते। साहित्य के पाठकीय अभिग्रहण के संबंध में अन्य समाजशास्त्रीय की तुलना में उनका अध्ययन अधिक गंभीर और व्यवस्थित है। इसके लिए उन्होंने दास्तोवस्की और हमसून की रचनाओं का पाठकों पर विचारधारात्मक प्रभाव का विस्तार से विश्लेषण किया है। इस पद्धति से रूढ़िवादी और प्रगतिशील रचनाओं का अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। लावेंथल लोकप्रिय साहित्य को आधुनिक समाज में मनुष्य की चेतना और सामाजिक मूल्यव्यवस्था को जानने का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत समझते हैं और उसके अंतर्गत सस्ते उपन्यास, जीवनियाँ, समाचार-पत्र, पारिवारिक पत्रिकाएँ और पुस्तक-समीक्षाओं का अध्ययन करते हैं। उनके यहाँ आलोचना लोकप्रिय साहित्य तक सीमित है। उनके अनुसार – "लोकप्रिय संस्कृति की वस्तुपरक स्थिति का तथ्यात्मक ज्ञान जरूरी है जो अनुभववादी पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन मूल्यांकन के लिए नैतिक और सौन्दर्य-बोधीय दृष्टि भी आवश्यक है।"[29] इसके साथ वे ऐतिहासिक संदर्भ की भी आवश्यक मानते हैं।

कोई भी विचारधारा अपने आप में पूर्ण नहीं होती। सभी में कुछ कमियाँ अवश्य रह जाती हैं। इसी संदर्भ में एलेनस्विंगवुड ने लिखा है कि – "फ्रैंकफुर्त समुदाय के समाजशास्त्रियों ने भीड़ को एक सर्वव्यापी मिथक बना दिया और उसके आधार पर समाज, संस्कृति, कला और मनुष्य की दिशा की व्याख्या कर दी।"[30] तथापि – "तेन के बाद और गोल्डमान से पहले के काल में

लावेंथल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य के समाजशास्त्री हैं। उनके चिंतन की एक बड़ी विशेषता है कि उसमें साहित्य के इतिहास और समाजशास्त्र की वह एकता है जो तेन के यहाँ भी मिलती है। उनके चिंतन में जो समग्रता है वह बाद के समाजशास्त्रियों में नहीं मिलती।--- पूंजीपति उपभोक्ता समाज में संस्कृति और कला की दुर्गति को पहचानने में आज भी उनकी दृष्टि दिशा दे सकती है।"[31]

संरचनावाद: संरचनावाद का अध्ययन हम दो स्तरों पर कर सकते हैं। एक, लुसिए गोल्डमान का 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' और दूसरा है, विलियम्स का 'अनुभूति की संरचनाएँ'। बीसवीं सदी के समाजशास्त्रीय में लुसिए गोल्डमान(1913-71) का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। साहित्य के समाजशास्त्री के रूप में उनकी विशेष ख्याति फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित मुख्यतः दो कृतियों से मिली: 'अव्यक्त ईश्वर'(1956) और 'उपन्यास के समाजशास्त्र की एक दिशा'(1964)। गोल्डमान की मान्यताओं के तीन स्त्रोत है – जार्जलुकाच का आरंभिक चिंतन, पिसे का मनोविज्ञान और संरचनावाद। लुकाच के चिंतन से समग्रता, विश्वदृष्टि, रूप, पराव्येक्तिक चेतना, संभावित चेतना और वस्तुपरक संभावना आदि धारणाएँ ली। पिजे के चिंतन से उन्होंने संरचना, प्रकार्य, संरचनाओं के विकास और ह्रास की प्रक्रिया, चेतना और वस्तु के बीच संबंध तथा संतुलन आदि धारणाओं को अपनाया। उनकी समानधर्मिता की धारणा पर संरचनावाद का प्रभाव है। इन सब विशेषताओं को समेटते हुए उनकी पद्धति 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' कहलायी। उनकी

पद्धति जीतनी नयी है उतनी जटिल भी है। गोल्डमान साहित्य के समाजशास्त्र के इतिहास में साहित्य और समाज के संबंध की खोज में कृति में व्यक्त चेतना के सामाजिक उद्भम की खोज करते हैं। इसके लिए वे कृति की विश्वदृष्टि और वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं के बीच समानधर्मिता को ढूढने हैं। जिनमें उनकी 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' पद्धति उपयोगी सिद्ध होती है।

गोल्डमान के अनुसार – "किसी वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं से कृति के भीतर रचित संचार की संरचनाओं की समानधर्मिता होती है। समाजशास्त्री उसी समानधर्मिता की खोज करता है।"[32] वे यह भी मानते हैं कि परस्पर भिन्न अंतर्वस्तु वाली रचनाओं में भी चेतना की संरचना के स्तर पर समानधर्मिता हो सकती है। गोल्डमान की पद्धति समग्रता की धारणा से अनुशासित होती है। समग्रता के दो पक्ष हैं – संरचनात्मक और ऐतिहासिक। संरचनात्मक स्तर पर समग्रता के अंश की जगह पूर्ण के बोध पर जोर होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी एक पक्ष के बोध से उसकी संपूर्णता का बोध अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'साहित्य में आलोचना और कट्टरपंथ' नामक निबंध में उन्होंने अपनी विश्लेषण पद्धति की अनेक सीमाओं को भी स्वीकार किया है।"[33]

टेरी इग्लटन ने लिखा है कि – "रेमण्ड विलियम्स के लेखन को परंपरागत रूप से प्रचलित कोई नाम देना कठिन है। उनको समाजशास्त्री, राजनीतिक, सिद्धांतकार, सामाजिक-दार्शनिक और सांस्कृतिक भाष्यकार

आदि नामों में से कोई एक नाम देकर उनके लेखन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।"[34] क्योंकि साथ ही वे उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, निबंधकार भी हैं। उनके चिंतन और प्रभाव की व्यापकता को ध्यान में रखकर ही कई बार उनकी तुलना जार्ज लुकाच और सार्त्र से की जाती है।

रेमण्ड विलियम्स के लेखन में समाज से संस्कृति के जीवंत और सर्जनात्मक संबंध की व्याख्या में मदद करने वाली केन्द्रीय धारणा है 'अनुभूति की संरचना'। 1954 ई.स. के अपने एक लेख 'प्रिफेस टू फिल्म एण्ड ड्रामेटिक ट्रेडिशंस' में पहली बार उन्होंने इस धारणा को रखा था। उन्होंने लिखा था – "हम एक सीमा तक प्रधान विचारों को भी कमोबेश सही ढंग से पुनर्निमित कर सकते हैं। इन तत्वों से निर्मित समग्रता के किसी एक हिस्से से किसी कलाकृति को जोड़कर देखना उपयोगी हो सकता है। लेकिन अनुभव यही बताता है कि विश्लेषण के दौरान इस समग्रता के सभी तत्वों से कला का संबंध खोज लेने पर भी उसमें ऐसा कुछ बच जाता है जिसका बाहर की किसी चीज से संबंध जोड़ पाना मुश्किल होता है। उसी को मैं एक काल की अनुभूति की संरचना कहता हूँ जिसे किसी कलाकृति को समग्रता में अनुभव करके जाना जा सकता।"[35] यहाँ अनुभूति की संरचना के सहारे वे काल विशेष की जानी-पहचानी विचारधारा से वास्तविक जीवन के अनुभवों में उस विचारधारा की परिणतियों को अलग करना चाहते हैं।

रेमण्ड विलियम्स अनुभूति की संरचना के सहारे रचना के व्यैक्तिक जीवंत और आत्मपरक पक्षों की ओर संकेत करते हैं। यहाँ यह प्रसंग महत्त्वपूर्ण है कि किसी रचना में अनुभव और अनुभूति के स्तर पर ही वैयक्तिकता अधिक प्रकट होती है, विचार के स्तर पर नहीं. इसलिए वे विचार से अधिक अनुभूति की बात करते हैं। मार्क्सवादी आलोचना में रचना के आत्मपरक और वैयक्तिक पक्षों की उपेक्षा की प्रवृत्ति की भी उन्होंने आलोचना की है। उन्होंने लिखा है कि – "जब विश्वदृष्टि, विचारधारा अथवा वर्ग दृष्टि की बात की जाती है तब रचना के जीवंत अनुभव पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। कहीं-कहीं रचना में सचेत विचारधारा और नये अनुभव के बीच तनाव भी मिलता है। अनुभूति की संरचना के सहारे इस तनाव की व्याख्या की जा सकती है।"[36] 'संस्कृति और समाज' नाम की पुस्तक में विलियम्स ने उन्नीसवीं सदी के कुछ उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप बदलते ब्रिटेन के समाज और उसकी चेतना का स्वरूप स्पष्ट किया है।

1.3 दलित साहित्य का समाजशास्त्र : एक चुनौती के रूप में

उपरोक्त पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र के विवेचन के बाद जब हम दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श पर बात करते हैं और इन विमर्शों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हैं तब हमें निश्चित रूप से भारतीय जाति-व्यवस्था, पितृसत्तात्मकता, ब्राह्मणवाद आदि को समझना पड़ेगा। चूँकि इन्हीं के इर्द-गिर्द ये विमर्श घुमते हैं और उनका विरोध करते हैं। इसके

लिए गोल्डमान का 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। भारतीय समाज व्यवस्था के सन्दर्भ डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर कहते हैं – "भारतीय समाजव्यवस्था एक ऐसी बहुमंजिला ईमारत है जिसमें व्यक्ति जिस माले में पैदा होता है, उसी में मर जाता है। ईमारत से बहार निकलने का कोई दरवाजा नहीं है।"[37] इसी समाज-व्यवस्था ने मनुष्य को बांध कर रखा है वह मुक्त होकर कोई कार्य नहीं कर सकता। और इस बहुमंजिला ईमारत में जो सबसे ऊपर उन्हीं लोगों ने (प्राचीन से लेकर अब तक)साहित्य की रचना की तब हम सहज रूप से अंदाजा भी लगा सकते हैं कि उन लोगों ने अपने साहित्य किन लोगों का गुणगान गया होगा और किन लोगों का तिरस्कार किया होगा? निश्चित रूप से वे दलित थे। आदिवासी इस समाज-व्यवस्था से दूर जंगल में थे लेकिन दलित एवं स्त्रियों ने इस समाज-व्यवस्था और पितृसत्तात्मकता के क्रूरता को झेला है। शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं – "बाबासाहब के मतानुसार हर ग्रन्थ को समाज और मनुष्य का जिम्मेदार होना चाहिए।" आगे फिर कहते हैं- "बाबासाहब का कहना है कि आम आदमी की महत्ता से प्रेरणा लेकर लेखकों को लेखन करना चाहिए। वे कहते हैं अपने साहित्य की रचनाओं में उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को परिस्कृत कीजिए।अपनी कलम की रोशनी को इस तरह परिवर्तित कीजिए कि गाँव-देहातों का अँधेरा दूर हो। यह मत भूलिए कि अपने देश में दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बहुत बड़ी है। उसकी पीड़ा और व्यथा को भली-भांति जान लीजिए और अपने साहित्य द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का

प्रयास कीजिए। इसमें सच्ची मानवता निहित है।”[38] डॉ. आंबेडकर के साफ-साफ विचार हैं कि साहित्य का व्यापक विषय आम जन होना चाहिए मतलब समाज का सबसे उत्पीडित तबका – वह गरीब भी है, दलित भी, महिला भी, आदिवासी भी और अल्पसंख्यक भी। साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि साहित्य में समाज को विकसित करने के गुण भी होने चाहिए। अब तक के भारतीय साहित्य पर कुछ खास लोगों का वर्चस्व रहा है और सिर्फ रसास्वादन के लिए ही लिखा गया(आधुनिक साहित्य के कुछ अपवाद छोड़ कर)।इस सन्दर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं – “साहित्य में रस, आनंद, कला के मर्मज्ञों ने जनमानस के दुःख-दर्द और उसकी पीड़ा को जिस तरह छिन्न-भिन्न किया था, वह एक दुःखदायी दौर था। दलित साहित्य अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिक दृढ़ता से साहित्य और समाज के संबंधों को फिर से जोड़ने का कठिन और जरुरी काम कर रहा है।”[39] तेन साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं लेकिन भारतीय साहित्य के दर्पण में दलित, आदिवासी एवं स्त्री का रूप दिखाई नहीं देता । वाल्मीकि जी साहित्य और समाज के संबंधों को फिर से जोड़ने की कठिनाई की जब बात कर रहे हैं तब यह कठिनाई कहा पर आती है, यह जानना जरूरी है। इसका उत्तर भी वे खुद ही देते हैं – “साहित्य और समाज अलग-अलग ईकाई होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्य में आलोचना का जो विशिष्ट महत्त्व होता है, वही उसे समाज-सापेक्ष, वस्तुनिष्ट बनाता है।”[40] चूँकि मुख्यधारा के रचनाकारों, आलोचकों ने अपने अब तक के साहित्य में दलितों को कामचोर, गंवार ही

समझा,आदिवासी को जंगली समझा, स्त्रियों को सिर्फ भोग की वास्तु समझा। साथ ही साथ दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श पर आरोप लगाये कि उनका भाषा-शिल्प, सौंदर्यशास्त्र, कथानक आदि निकृष्ट हैं। इन लोगों के लिए वाल्मीकि जी कहते हैं – "वे तमाम रचनाकार, आलोचक आकर्षक शब्दावली और तर्क जाल उनकी विशेषता होती है, वे लोग यथास्थितिवादी और आत्मतुष्ट लोग होते हैं, और सामाजिक अध्ययन के सवालों से बचते हैं।"[41] यह भी एक कारण है कि भारतीय साहित्य के समाजशास्त्रियों ने साहित्य के समाजशास्त्र में कोई विशेष परिस्थापनाएं नहीं दी। "भारतीय समाजशास्त्र कुछ-कुछ एंटीसेप्टिक किस्म का है. वह अपने क्षेत्र में दक्षता हासिल करने की कोशिश करता हुआ तो दिखाई देता है और उसमें तथ्यों के प्रति वफ़ादारी की प्रवृत्ति भी है लेकिन उसमे भारतीय परिस्थिति में निहित जटिलता की गहरी समझ विकसित नहीं कर पायी है। हमारे विद्वान एक साझा सहमति के आधार पर क्लर्कों की तरह समाजशास्त्र रचने जुटे रहते हैं और हालात में हुए परिवर्तनों को नापने के लिए अपर्याप्त पैमानों का इस्तेमाल करके अपना काम चला लेते हैं।"[42] शिव विश्वनाथन ने भारतीय समाजशास्त्रियों के सन्दर्भ में यह बात कही थी लेकिन साहित्य के समजाशास्त्र के सन्दर्भ में भी यह बात लागू होती है। क्योंकि दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श ने तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य के परंपरागत मानदंडों को चुनौती दी है । आम धारणा है कि समाजशास्त्र समाज को समझने का सशक्त माध्यम है । समाजशास्त्र की अवधारणा, उपागम और निष्कर्ष पाश्चात्य समाजदर्शन पर आधारित है, तो

भारतीय समाज का प्रामाणिक ज्ञान उससे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है । स्वदेशी समाजशास्त्र का आधार इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य है, जिसमें दलितों का न तो उचित प्रतिनिधित्व है और न ही महत्त्व । इसलिए भारतीय समाजशास्त्र के माध्यम से दलित समाज की सही समझ नहीं विकसित की जा सकी है । लेकिन दलित साहित्य के एक प्रतिरोधी स्वर से जो वैदिक काल से अब तक चला आ रहा है उससे किया जा सकता है । जिसकी शुरुआत चार्वाक से होती है और दलित पैंथर तक आती है । उसके बाद दलित साहित्य का उद्भव होता है । अतः भारतीय समाज-व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय इतिहास को समझना भी जरुरी है, जिसमें वर्चस्ववादी संस्कृति के बरक्स प्रतिरोध की संस्कृति भी मौजूद है । इसलिए पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र के साथ-साथ दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श के समाजशास्त्र को समझने के लिए प्रतिरोधी संस्कृति को समझना भी जरुरी है, जिसको हम अगले अध्याय में देखेंगे और वह भी विशेष रूप से दलित साहित्य के सन्दर्भ में।

संदर्भ

[1] दलित साहित्य का समाजशास्त्र- हरिनारायण ठाकुर, पृ.सं.28
[2] उत्तरशती के विमर्श- चौथीराम यादव, भूमिका
[3] साहित्य का समाजशास्त्र:अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ. सं. 21
[4] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.31
[5] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.32
[6] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.31
[7] मुक्तिबोध रचनावली-५,पृ.सं.293
[8] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.64
[9] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.69
[10] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.69
[11] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति, पृ.सं.70
[12] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति पृ.सं.71
[13] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति पृ.सं.71
[14] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति पृ.सं.73
[15] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति पृ.सं.74
[16] साहित्य का समाजशास्त्र-अवधारणा,सिद्धांत एवं पद्धति पृ.सं.74
[17] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.32
[18] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.33
[19] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.43
[20] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.44
[21] उपन्यास और लोक जीवन,पृ.सं.19
[22] उपन्यास और लोक जीवन,पृ.सं.22
[23] उपन्यास का समाजशास्त्र, भूमिका, पृ.सं.8
[24] उपन्यास का समाजशास्त्र, भूमिका पृ.सं.11
[25] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.135
[26] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.136
[27] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.136
[28] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.136-137
[29] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.142
[30] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.143
[31] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.144
[32] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.150
[33] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.160

[34] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.161-162

[35] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.179

[36] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका-पृ.सं.182

[37] अपेक्षा-अंक-42-43,पृ.सं.70

[38] अपेक्षा-अंक-42-43, पृ.सं.46

[39] मुख्यधारा और दलित साहित्य,पृ.सं.51

[40] मुख्यधारा और दलित साहित्य,पृ.सं.116

[41] मुख्यधारा और दलित साहित्य,पृ.सं.70

[42] आधुनिकता के आईने में दलित, पृ. सं.363

द्वितीय अध्याय : दलित साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन : वैकल्पिक चिंतन की तलाश

2.1 लोकायत/चार्वाक दर्शन :-

लोकायत भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का एक विवेकशील, तर्कशील एवं प्रभावी दर्शन है, लेकिन वैदिकों के नजर में उपेक्षित एवं तिरस्कृत।वैदिकों के नज़रों में "सामान्य निर्विचार लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों की 'लोकायत' या 'लोकायतिक' संज्ञा पड़ी थी ।"[1] लोकायत का ही दूसरा नाम चार्वाक है।और बृहस्पति को लोकायत का सूत्रकार माना जाता है । लोकायत अर्थात 'लोक द्वारा गृहित, लोक द्वारा स्वीकृत और लोक द्वारा प्रेरित जीवन मूल्य'[2] है । वैदिक काल में लोकायत मौजूद थे और वैदिक काल 1500 ई.पू.माना जाता है जिसको हम प्रसिद्ध भाषाविद और आर्य भाषाओं के विशेषज्ञ डॉ.सुनीति कुमार के निम्नलिखित कथन में देख सकते हैं । वे लिखते हैं- "आर्य जब ई.पू.1500 में विदेश से भारत में आयें, उस समय लेखन विद्या उनके लिए बिलकुल अनजान थी।भारत वर्ष में आकर ही उन्होंने सिन्धु-हड़प्पा अंचल की भारतीय भाषा का आश्रय लेकर लगभग 1000 ई.पू.से वैदिक साहित्य विकसित किया ।"[3] डॉ.सुनीति कुमार के इस कथन में हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि आर्यों के भारत आने से पहले यहाँ पर एक विकसित सभ्यता विद्यमान थी। जिसको हम सिन्धु-हड़प्पा सभ्यता के नाम से

जानते हैं।वैसे देखा जाय तो आदि काल से अब तक जो भी सभ्यताएं एक-दूसरे से टकराई हैं उसमें किसी एक पक्ष को पराजित होना पड़ा है । और पराजित पक्ष पर सत्ताधारी पक्ष अपनी जो भी स्थापनाएं हैं उसको लादने का प्रयास करता है।अत: जब हम आर्यों से पहले भारत के निवासियों की बात करते हैं तब हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि आर्यों ने भारत के मूलनिवासियों को पराजित कर उनको दास बनाया, उनकी भाषा का आश्रय लेकर अपना साहित्य विकसित किया और उसमें पराजित मूलनिवासियों के विरोध में नियम बनायें। इसके साथ-साथ वैदिकों ने अपने ग्रंथों में ईश्वर का अस्तित्व, स्वर्ग-नरक, आत्मा, पाप-पुण्य, वेदांत प्रमाण्य आदि काल्पनिक एवं भ्रमित विधानों का प्रयोग अपने ग्रंथों में किया।लोकायतों ने "अनुमान की विश्वनीयता, वेदों की सत्ता, ईश्वर, आत्मा और इनके अमरत्व तथा सत्यता को नहीं माना और तत्कालीन 'इन्द्रिय आनंद' को छोड़ अन्य सभी नैतिक मूल्यों का खंडन किया।"[4] अब चूँकि लोकायत आर्यों से पराजित हुए थे और उनकी सभ्यता और साहित्य में आर्यों जैसे काल्पनिक एवं भ्रमित विधानों का कोई अस्तित्व नहीं था।इसलिए आर्यों के उपरोक्त विधानों का लोकायतों ने अपने तर्कों के साथ पुरजोर विरोध किया।यही बात आर्यों को नागवार गुजरी और अपने विधानों को नकारने वालों को उन्होंने नास्तिक कहा।लोकायत मत आम जनता में बहुत प्रसिद्ध था, इसलिए तथाकथित उच्च वर्गीय ब्राह्मण जाति इसको तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।लोकायतों ने सबसे पहले तो ईश्वर पर प्रश्नचिन्ह लगाया कि ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं है और यज्ञ वगैरे करने से

ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।इसलिए वैदिकों ने लोकायतों के ज्यादातर ग्रन्थ नष्ट किये या करवाये।

लोकायत के संबंध में यह बड़ी खेद की बात है कि उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और इनके सम्बन्ध में जानकारी केवल उनके विरोधियों के विवरणों से मिलती है।खैर, जब हम संस्कृत-प्राकृत लोकायत ग्रंथों की बात करते हैं तब सबसे पहले जयराशिभट्ट का 'तत्वोपप्लवसिंह'(आठवीं शताब्दी) जो कि 1940 में प्रकाश में आया जिसकी प्रस्तावना पंडित सुखलालजी संघवी ने लिखी।[5] इस ग्रन्थ में लोकयातिकों की तरह मोक्ष, आत्मा आदि को नकारा गया है, लेकिन चार्वाकों के प्रत्यक्ष प्रमाण और चार भूतों को जयराशीभट्ट ने नकारा है।इसलिए इस ग्रन्थ को चार्वाक दर्शन का ग्रंथ नहीं कह सकते।'बार्हस्पत्यसूत्रम अर्थात बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्रम'(बारहवीं शताब्दी) नाम का एक ग्रन्थ एफ.डब्ल्यू.थॉमस ने प्रस्तावना एवं भाषांतर के साथ प्रकाशित किया है। इस गन्थ में पहले तो कहा गया है कि 'अर्थ अध्ययन हेतु लोकायत एकमेव ग्रन्थ है लेकिन आगे यह भी कहा गया है कि मन से भी नास्तिकों से संपर्क न आने दें।'[6] जिससे पता चलता है कि इस ग्रन्थ में बहुत सारे प्रक्षेपों का समावेश हुआ है।'चौदहवीं शताब्दी के जैन भाष्यकार गुणरत्न(तर्क रहस्यदीपिका) आठवीं शताब्दी के 'षडदर्शन समुच्चय' पर अपनी टीका में लोकायतों(या लोकायातिकों) का उल्लेख इस अर्थ में करते हैं कि वे विवेक और क्षमता विहीन साधारण लोगों जैसा आचरण करते थें।'[7] विविध दर्शनों

का अध्ययन करने वाले ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखे गए हैं।इन गंथों में ‘सर्वदर्शसंग्रह’ यह ग्रन्थ सायणमाधवाचार्य ने चौदहवीं शताब्दी में लिखा था।माधवाचार्य कर्नाटक थे और जिस तरह चार्वाक दर्शन की सही जानकारी इस ग्रन्थ में मिलती है उससे ऐसा लगता है कि उनके समय में चार्वाक दर्शन का बहुत अधिक प्रभाव था।उसी तरह हरिभद्र सूरी का ‘षडदर्शनसमुच्चय’ ग्रन्थ में चार्वाक की जानकारी मिलती है।म.म.टी.गणपतिशास्त्री द्वारा सम्पादित ‘सर्वमतसंग्रह’ मलयालम भाषा के ग्रन्थ में भी चार्वाक दर्शन की जानकारी मिलती है लेकिन इस ग्रन्थ के मूल लेखक की कोई जानकारी नहीं मिलती।उसी तरह ‘सर्वसिद्धांतसंग्रह’ के मूल लेखक का नाम नहीं मिलता लेकिन इसमें भी चार्वाक दर्शन की सही जानकारी मिलती है।एम.रंगाचार्य ने इस ग्रन्थ को सम्पादित किया है।इन ग्रंथों के अलावा चार्वाक दर्शन की जानकारी कम-अधिक रूप में जिन प्राकृत-संस्कृत में ग्रंथों में मिलती है वह निम्नलिखित है- ऋग्वेद, अथर्ववेद, कठादी उपनिषद, निरुक्त, मज्झिम निकाय, नंदिसूत्र, अर्थशात्र, कामसूत्र, ब्रह्मसूत्र व इन पर किये गए भाष्य, गीता, रामायण, महाभारत, नैषधीय चरित, प्रबोध-चंद्रोदय इत्यादि।[8]

आधुनिक चार्वाक दर्शन ग्रंथों में राघवेन्द्र कुलकर्णी का ‘चार्वाक एंड चारनी’(1953) जो कि अंग्रेजी में लिखा है।जिसमें चारनी माने चार्वाक की पत्नी की कल्पना की गयी है और चार्वाक जीवन दर्शन की अनुकूल जानकारी इस ग्रन्थ में दी गयी है।मराठी के प्रा.सदाशिव आठवले का ग्रन्थ ‘चार्वाक-इतिहास आणि तत्वज्ञान’ चार्वाक दर्शन को न्याय देने वाला ग्रन्थ

है।डॉ.देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का “लोकायत’ अंग्रेजी ग्रन्थ मार्क्सवादी दृष्टि से लिखा हुआ ग्रन्थ है।लेकिन इस ग्रन्थ की खास बात यह है कि इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में लोकायत के विचार कितने गहरे और विस्तृत रूप में फैले हुए थे।डॉ.सर्वानंद पाठक का हिंदी में लिखित ग्रन्थ ‘चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा’ चार्वाक दर्शन को न्याय नहीं देता।चार्वाक दर्शन को उन्होंने ‘रोग’ के रूप में इस ग्रन्थ में देखा है वे लिखते हैं- “रोग की उत्पत्ति न हो तो किस की चिकित्सा के लिए औषधियों का निर्माण होगा?”[9] इसलिए इस ग्रन्थ में पाठक जी का दृष्टिकोण पूर्वग्रह से दूषित लगता है।आचार्य आनंद झा ने अपने ग्रन्थ ‘चार्वाक दर्शन’ में चार्वाक दर्शन को राज्यदर्शन या दंडनीतिदर्शन कहा है।लेकिन झा जी ने इस ग्रन्थ में पुनर्जन्म की संभावना और वैदिक ग्रंथों को मान्यता दे दी है इसलिए इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन को न्याय नहीं मिला है।मराठी ललित साहित्य में चार्वाक दर्शन पर बहुत सारे ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें श्रीकृष्ण वासुदेव किर्लोस्कर ‘चार्वाक’ नाम से तीन अंकी नाटक 1958 में प्रकाशित हुआ था।श्री.ज.जोशी का उपन्यास ‘चार्वाक’ नाम से प्रकाशित हुआ है इसके अलावा डॉ. गणेश थिटे का सम्पादित ‘चार्वाक समीक्षा’ और डॉ.प्रदीप गोखले का ‘चार्वाकवाद और अद्वैतवाद’ ग्रन्थ भी चार्वाक दर्शन की जानकारी देते हैं।उपरोक्त सभी ग्रंथों में चार्वाक दर्शन पर लिखा तो गया है लेकिन ज्यादा तर ग्रन्थ चार्वाक दर्शन के साथ न्याय नहीं कर सके। किसी ने अपने पूर्वग्रह से ग्रसित होकर तो किसी ने चार्वाक दर्शन की जानकारी के अभाव में इस दर्शन के बारे में लिखा है।

लोकायत दर्शन के श्लोक: उपरोक्त विभिन्न ग्रंथों में कुछ खास श्लोकों की आलोचना की गयी है जिसको हम निम्निखित रूप में देख सकते हैं-

श्लोक : प्रत्यक्षमेव प्रमाणम।अर्थात प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।[10] आधुनिक सन्दर्भ में देखा जाय तो विज्ञान की सारी उपलब्धियाँ प्रत्यक्ष प्रणाम के कारण ही प्राप्त हुई है।वैज्ञानिक प्रत्यक्ष की जगह आगम पर आश्रित रहते तो पृथ्वी को आज भी स्थिर माना जाता।इसलिए लोकायत तर्कशील एवं आधुनिक विचारधारा से युक्त थे जब कि वैदिक पुरानी परम्परा या आगम और अनुमान पर आश्रित हैं जिसके कारण लोकायतों का उन्होंने कडा विरोध किया।

श्लोक: जलबुदबुद्वज्जीवा: अर्थात जल के ऊपर जिस प्रकार बुलबुले उठकर क्षण में नष्ट हो जाते हैं वैसे ही जीवों की गति है।[11] जीवन की क्षणिकता को बड़े ही सहज ढंग से स्वीकार किया गया है।पानी के बुलबुले की तरह जीवन किसी भी क्षण नष्ट होने वाला है तब अभिमान किस बात पर किया जाय।इसलिए जीवन को सुखी बनाने के लिए लोकायत प्रयत्नशील हैं।

श्लोक: एक आत्मन शरीर भावत।अर्थात प्रत्यक शरीर में अलग अलग आत्मा होती है।[12] इस सूत्र के कारण चार्वाक पर यह आरोप लगाया जाता है कि शरीर को ही आत्मा मानने की वजह से चार्वाकवादी स्वार्थी, कामी और असामाजिक होते हैं।वस्तुतः किसी भी समाज के नैतिक मूल्य उस समाज की आंतरिक व्यवस्था पर निर्भर होते हैं।उसी तरह चार्वाकों के सामाजिक मूल्य

भी अपने समाज के आंतरिक व्यवस्था पर आधारित है।तब वैदिकों के विरोध पर आचार्य नहीं होना चाहिए।हमने इससे पहले ही बता दिया है कि वैदिक और लोकायत सभ्यताएं अलग अलग हैं, उनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है।

श्लोक: पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्वानि ।अर्थात पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्व है।[13] और श्लोक; तत्समुदाये शरिरेंद्रिय विषय संज्ञा।अर्थात इन तत्वों के संघात, समुदय और समवाय से शरीर इन्द्रिय, विषय और संज्ञा उत्पन्न होती है।[14] भूतों के चतुष्ट्य पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परस्पर संबंध और क्रिया से ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है।संभवत: चार्वाक के पास इसका कोई वैज्ञानिक प्रणाम नहीं था, किन्तु जैविक सृष्टि का सूक्ष्म निरिक्षण करने पर यह समझ पाना कठिन नहीं था कि वनस्पतियों और निम्न प्रकार के किट-पतंगों का जन्म भूतचतुष्टय के अंतर्संबंध और परस्पर क्रियाओं के कारण ही होता है।इन्हीं चार तत्वों के मिश्रण से शरीर की उत्पत्ति होती है।इसके पीछे किसी अलौकिक शक्ति का लोकायत विरोध करते हैं।

उपरोक्त सूत्रों के अलावा भी लोकायत के सूत्र विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं।सभी सूत्रों को यहाँ पर लिखना संभव नहीं है।अत: चार्वाक के मौलिक विचार हम सार रूप में यहाँ पर दे रहे हैं – ‘परलोक में रहने वाले किसी व्यक्ति का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता है, इसलिए परलोक भी नहीं है।विषय, सुख और मरण ये ही मोक्ष हैं।स्वर्ग का सुख धूर्तों का प्रलाप है।त्रयी विद्या (वेदाध्ययन), पाप-पुण्य और अलौकिकता ठगों की चालाकी है।अर्थ

और काम दो ही पुरुषार्थ हैं।दंडनीति ही एकमात्र विद्या है और इसी में कृषि वाणिज्यशास्त्र भी सम्मिलित है।प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रणाम है।आत्मा शारिराश्रयी है।लौकिक मार्ग का अनुकरण करना चाहिए।निग्रह अनुग्रह करने वाला राजा – जो कि लोक व्यवहार को सिद्ध करता है और दांडिक है, वही ईश्वर है।'[15]

उपरोक्त सूत्रबद्ध विचार चार्वाक के मौलिक विचार हैं। सही मायने में देखा जाय तो मानव सभ्यता में भौतिकवादी चिंतन मनुष्य की जिज्ञासा और दृढ़ इच्छा शक्ति का ही परिणाम है।आदिम मनुष्य ने प्राकृतिक प्रचंडता और रहस्यात्मकता को देख कर ही अलौकिक देवताओं की मानसिक सृष्टि की थी।इस मानसिक सृष्टि को तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि से नकारने का काम लोकायतों ने किया है। दरअसल लोकायतों ने मनुष्य मात्र के जीवन को सुखी बनाने का प्रयास किया है।

चार्वाक दर्शन की प्रासंगिकता :

आज के समय में चार्वाक दर्शन की बहुत अधिक जरूरत है क्योंकि आज ईश्वर, धर्म, जाति, वर्ग आदि समाज विघटनकारी शक्तियां हमारे चारों और दिखाई देती हैं।'चार्वाक दर्शन एक वास्तववादी जीवनदृष्टि है।'[16] यह दर्शन मनुष्य मात्र को वैज्ञानिक दृष्टि से जीने के लिए बाध्य करता है। हिंदी का एक मुहावरा है - बुरे काम का बुरा नतीजा। यहाँ 'काम' की जगह अगर 'सोच'

शब्द रख दिया जाए, तब भी वाक्य की सच्चाई में कोई अन्तर नहीं आएगा। बुरे काम की तरह ही बुरा चिन्तन या बुरी सोच भी अन्ततः बुरा परिणाम ही देती है। ईश्वर की अवधारणा भी ऐसी ही एक बुरी सोच है, जिसका दुष्परिणाम मानव जाति आज तक भुगत रही है।जो हमारे एकदम प्रत्यक्ष सामने है - यह प्रकृति, यह पृथ्वी, उसका पर्यावरण, यह मानव समाज, ये अपने सहजन-प्रियजन-परिजन, इनके सुख-दुख, रोग-शोक - इस सारे धड़कते हुए जीवन्त संसार से आँखें मूँदकर, विभिन्न उपासनास्थलों - मन्दिरों-मस्जिदों-गिरजाघरों-गुरुद्वारों आदि - में उस ईश्वर, अल्लाह या गॉड - जो कहीं नहीं है - की पूजा-अर्चना-प्रार्थना में लोग लगे हुए हैं।इन लोगों को शोर-शराबे, धूम-धड़ाके भरे गणेशोत्सव, दुर्गा पूजा आदि के धार्मिक जुलूसों के जुनून में झूमते-गाते देखा जा सकता है।काश धर्म की धंधेबाजी करनेवाले कुछ धूर्त व्यवसायियों के बहकावे में आए हुए इन भोले-भाले और बेवकूफ बननेवाले लोगों का यह सैलाब इस निरर्थक काम को छोड़कर अपने देश और समाज को उसकी मूलभूत समस्याओं – अशिक्षा और सामाजिक-आर्थिक विषमताओं - से मुक्त करने के सार्थक काम में लग सकता, तो वैसी स्थिति में इस संसार को अपनी कल्पना का स्वर्ग बनाने में हमें कितनी देर लगती! आस्तिकता से मानव जाति को सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ है कि उसने मनुष्य का आत्मविश्वास छीनकर उसे डरपोक और कायर बना दिया है। रास्ते

में किसी लाल कपड़े में लिपटी हुई कोई चीज दिख जाए, तो उसकी रूह काँप उठती है - जरूर किसी ने कोई टोना किया है, आज मेरा कोई न कोई अनिष्ट होकर रहेगा। आस्तिकता ने उससे अपनी क्षमता पर, अपने कर्म पर से आत्मविश्वास छीन लिया है, वह अपने आप को दैवी शक्तियों का गुलाम समझने लगा है।भय अतिरिक्त क्रूरता को जन्म देता है। डरा हुआ आदमी दूसरों के प्रति ज्यादा क्रूर हो जाता है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली स्त्रियों को सभी देशों में 'डायन' या 'चुड़ैल' घोषित कर बड़ी क्रूरता से मारा गया। स्वतंत्र विचारकों, नए अप्रत्याशित तथ्य खोजने वाले वैज्ञानिकों और नास्तिकों को जहर पिलाने या जिन्दा जलाने के काम भी तत्कालीन भयभीत सत्ताधारी आस्तिकों की क्रूरता के ही कारनामे हैं।

ईश्वर की अवधारणा के साथ ही जुड़ी हुई है स्वर्ग-नरक या परलोक की धारणा, और देहान्त के बाद आत्मा के इन लोकों में जाने की कल्पना! हिन्दुओं में परलोक की यह कल्पना वैदिक काल के वांग्मय में नहीं मिलती। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वैदिक सभ्यता विजेता आर्यों की सभ्यता थी। जमीनों की इफरात थी। नए-नए क्षेत्र जीते जा रहे थे। इहलोक धन-धन्य से परिपूर्ण था। इस लोक के दुख-दर्दों की क्षतिपूर्ति के लिए परलोक के लम्बे-चौड़े दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं थी। वैदिक ऋषियों ने जिन देवताओं

की कल्पना की - इन्द्र, वरुण, यम आदि - वे भी उनके अपने पूर्वज ही थे या प्रकृति की ऐसी शक्तियों के प्रतीक, जिनका रहस्य समझ में नहीं आता था, जैसे अग्नि, वायु, वर्षा आदि।पर आगे चलकर इस सरल धर्म में भी ओझाओं और पुरोहितों तथा उनके जटिल अनुष्ठानों के कारण संश्लिष्टता और जटिलता आई और धर्म शासक वर्ग के स्वार्थों का साधन बन गया। सबसे पहले इन पुरोहितों का विरोध चार्वाकों ने किया।उपनिषदों में भी हमें अनेक स्थलों पर धर्म के इस शासक-समर्थक रूप के प्रति विरोध के स्वर दिखाई देते हैं। आगे चलकर इसी विरोध की प्रक्रिया में से बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक दर्शनों का विकास हुआ।

ईश्वर और उसके विभिन्न अवतारों और देवी-देवताओं को प्रसन्न करने और उनकी कृपा प्राप्त करने के नाम पर धर्म के सारे कर्मकाण्ड, और उन्हें सम्पन्न करवाने वाले पण्डों-पुजारियों, ओझाओं और सयानों का अर्थात एक पूरा पुरोहित वर्ग विकसित हुआ, जिसकी जीविका ही इन कर्मकाण्डों, टोने-टोटकों से मिलनेवाली दक्षिणा थी। धर्म का सारा तामझाम, पूरा व्यापार ईश्वर आदि की अवधारणा पर ही आधारित है। इस तरह आस्तिकता ने ही भारतीय संदर्भ में केवल पुरोहितों या ब्राह्मणों के एक परजीवी वर्ग को जन्म दिया। उसके माध्यम से वर्ण व्यवस्था स्थापित करके पूरे समाज को वर्णों में

विभाजित कर शूद्रों के साथ अमानवीय अत्याचार किए। यह वर्ण व्यवस्था ही कालक्रम में जाति व्यवस्था में परिवर्तित हुई। पूरा हिन्दू समाज सैकड़ों श्रेणियों, ऊँची-नीची जातियों में बँट गया। इस जातिवादी कोढ़ से हमारा देश आजादी के पैंसट साल बाद भी मुक्त नहीं हो सका है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर मनुष्य की एक बचकानी कपोलकल्पना मात्र नहीं है, वह मानव समाज के लिए एक हानिकारक अवधारणा है, जो न केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच की विषमताओं को स्वीकार्य बनाती है, मनुष्य द्वारा अन्य मनुष्यों को गुलाम बनाए जाने की अमानुषिकता को भी उचित ठहराने में मदद करती है।'ईश्वर' मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को जायज ठहराने वाली एजेंसी है, विषमता का प्रहरी है, मानवीय स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का दुश्मन है। वह मनुष्य के अज्ञान और अंधविश्वास की सन्तान तो है ही, एक बार अवधारणात्मक पुष्टि पा लेने के बाद वह मनुष्यों के अज्ञान और अन्धविश्वासों का रखवाला भी बन गया है। उसकी धारणा से छुटकारा पाए बिना मानव समाज स्वस्थ, सुखी और मानवीय नहीं हो सकता। इसीलिए आज हमें चार्वाक दर्शन की आवश्यकता है।जोकि मानवीय जीवन को सर्वांगीण सुखी बनाता है।

2.2 बौध धर्म

“मैं आप लोगों को यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि मनुष्य धर्म के लिए नहीं है, बल्कि धर्म मनुष्य के लिए है संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। धर्म एक साधन मात्र है जिसे बदला जा सकता है. ....हिन्दू धर्म को त्यागने में ही तमाम दलित, पद-दलित, अछूत, शोषित, पीड़ित वर्ग का वास्तविक हित है, यह मेरा स्पष्ट मत बन चुका है।”[17] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर मनुष्य को सबसे बढ़कर मानते हैं, चाहे वह किसी भी धर्म का हो. चूँकि हिन्दू धर्म ने दलितों के मानवीय हक्कों को ही कुचल डाला था इसलिए डॉ.अम्बेडकर हिन्दू धर्म को ही त्यागना चाहते हैं। लेकिन डॉ.अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म त्यागने से पहले हिन्दू धर्म को सुधारने की कोशिश अवश्य की थी, इस बात को इंकार नहीं किया जा सकता। धर्म एक सामाजिक व्यवस्था का नाम है और अनेक धार्मिक व्यवस्थाएं दुनिया में मौजूद हैं। ऐसे में व्यक्ति उसी व्यवस्था को अपनाना चाहेगा जो उसके अनुकूल हो। दरअसल “समाज को संरचना और उसके नियंत्रण में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्म का अभिप्राय वस्तुतः जीवन के एक तरीके या आचरण की एक संहिता से है जो व्यक्ति के रूप में और समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की क्रियाओं को नियंत्रित करती है। ”[18] इसलिए मनुष्य को धर्म की आवश्यकता है।

जब हम बौद्ध धर्म की बात करत हैं तब हमें यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि बौद्ध धर्म के काफी सिद्धांतों पर लोकायत दर्शन का प्रभाव है। जैसे लोकायत ईश्वर को नहीं मानते, बुद्ध ने लोकायत मत को स्वीकार किया और ईश्वर को नहीं माना। इसलिए बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी और अनात्मवादी

कहा जाता है। परलोक, आत्मा और ईश्वर को न मानने के कारण लोकायत को भौतिकवादी कहा गया, पर (कहा जाता है)बुद्ध परलोक को मानने के कारण अभौतिकावादी माने जाते हैं। इसको हम विस्तृत रूप से देखेंगे। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार "पुनर्जन्म को यद्यपि बुद्ध ने नित्य आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में आवागमन के रूप में मानने से इनकार किया था, तो भी दूसरे रूप में परलोक और पुनर्जन्म को माना था। जैसे इस शरीर में जीवन विच्छिन्न प्रवाह(नष्ट उत्पत्ति) के रूप में एक तरह की एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरांत में भी जारी रहेगा। पुनर्जन्म के दार्शनिक पहलू को और मजबूत करते हुए बुद्ध ने पुनर्जन्म प्रतिसन्धि के रूप में किया, अर्थात नाश और उत्पत्ति की संधि(शृंखला) से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीर में चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसन्धि(जुड़ना) एक शरीर से अगले शरीर में होती है।"[19] इसी सन्दर्भ में डॉ. के. दामोदरन का कहना है कि बुद्ध भौतिकवादी हैं वे लिखते हैं -"कारण यह है कि अनात्मवाद ईश्वर और आत्मा की आवधारण का यद्यपि निषेध करता है, तथापि वह यह नहीं मानते थे कि जीवन-प्रकिया केवल शरीर में सीमित है, उनका कहना था कि वैयक्तिक चेतना मृत्यु के बाद भी जारी रहती है। ठीक है कि यह आत्मा का शरीरांतरण नहीं था जिस चीज का अंतरण होता है, वह अहं की सत्ता नहीं है, वरन केवल विचार का रूप है। मृत्यु को धर्मों(तत्वों) के निश्चित संयोग का बिखराव माना जाता था, जिसके बाद एक नया संयोग तैयार होता था। जीवन और मृत्यु की इस निरंतर प्रक्रिया को कर्म अर्थात पिछले जन्मों के तमाम पापों और पुण्यों

का कुल योग पूर्व निर्धारित करता था। इस अर्थ में बौद्ध धर्म सभी जीवित प्राणियों के पुनर्जन्म में विश्वास करता था।”[20] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों विद्वानों ने यह माना है कि बोद्ध धर्म ने ‘ईश्वर नहीं, ‘आत्मा नहीं’, पुनर्जन्म नहीं, परलोक नहीं’ सिद्धांतों में से दो सिद्धांतों ‘ईश्वर नहीं और आत्मा नहीं’ को स्वीकार किया, पर एक नयी व्याख्या के साथ पुनर्जन्म को माना और परलोक को भी एक अलौकिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया। दरअसल बुद्ध द्वारा आविष्कृत ‘निर्वाण’ ऐसी ही सत्ता है जो हिन्दुओं के मोक्ष से अलग है। ब्राह्मणों ने इसी को लक्ष्य कर बुद्ध के पांच सौ जन्मों की जातक कथाओं की आधारशिला रखी। बुद्ध ने अपने उपदेशों को लिपिबद्ध नहीं किया था। उनके उपदेशों का संग्रह उनके परिनिर्वाण के बाद हुआ। इसलिए इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि लोगों ने मूल बुद्ध वचनों में परिवर्तन न किया हो। इसलिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिन्दू धर्म ने यह प्रचारित किया कि बुद्ध विष्णू के दसवें अवतार हैं। वैसे भी जिन प्रश्नों का समाधान बुद्धि से नहीं हो सकता और जिनके उत्तर पाने और नहीं पाने से आदमी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं , ऐसे सभी प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में डाल दिया था और उसके पूछने की मनाही कर दी थी। ऐसे में कुछ विद्वानों ने बुद्ध के मूल विचारों को छोड़ परवर्ती विचारों को आधार बनाकर बौद्ध धर्म को पुनर्जन्म और परलोक पर विश्वास करने वाला कहा है, जो सरासर गलत है.

लोकायत ने चार तत्वों(पृथ्वी, जल, तेज और वायु) को माना है, आकाश तत्व उसमें शामिल नहीं है, जो ब्राह्मणी दर्शन का तत्व है। आकाश तत्व के बिना ईश्वरवाद की अवधारणा को बल नहीं मिलता। बुद्ध ने लोकायत के चारों तत्वों को स्वीकार किया है. लेकिन आकाश तत्व को स्वीकार नहीं किया। इन सारी बातों से एक बात स्पष्ट होती है कि बौद्ध धर्म लोकायत का ही विकसित रूप है।

बौद्ध धर्म की पृष्ठभूमि एवं विचार / उपदेश:

बौद्ध धर्म तत्कालीन समय के वैदिक या कहें कि ब्राह्मण धर्म की कुरीतियों वर्चस्ववादिता, अन्याय के विरुद्ध पैदा हुआ एक लोक धर्म था। इसे और ठीक प्रकार से समझने के लिए हम रामधारी सिंह 'दिनकर' के कथन को यहाँ देख सकते हैं, वे लिखते हैं-"बुद्ध के समय से ही भारत में संस्कृति की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट रही हैं। एक धारा वह जो वर्णाश्रम धर्म को अक्षुण्ण रखना चाहती है जिसका विश्वास वेदान्तों, पुरानों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में है और धर्म के स्मृति रूपों में श्रद्धा रखती है; मंदिर, मूर्ति, तीर्थ और व्रत में विश्वास करती है। इस धारा के आचार्य मनु, शंकर तथा उनके कवि कालिदास, जयदेव और तुलसीदास हैं। दूसरी धारा वह है जो बुद्ध के कमंडल से निकलकर बौद्ध धर्म के आचार्यों से होकर सरहपा, नाहपा आदि सिद्धों में पहुंची और उनके कवि कबीर, नानक, दादू हैं।"[21] अगर हम बुद्ध के पूर्व वैदिक काल में भी जाते हैं, तो वहां पर भी संस्कृति की दूसरी परम्परा में लोकायत

मौजूद थें। बुद्ध के समय वैदिक सभ्यता का बहुत ही विकृत रूप सामने आया था। इसलिए “बुद्धदेव का जन्म और उनके द्वारा चलाए गए धर्म का उत्थान कोई आकस्मित घटना नहीं थी। असल में, बौद्ध धर्म उस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम था, जो कर्मकांड, हिंसायुक्त यज्ञ के आडम्बर और पुरोहितवाद के विरुद्ध पहले से ही बहती आ रही थी और जिसकी आवाज हम उपनिषदों और गीता में सुनते हैं। वेद और उपनिषद पढ़ने का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया गया था। न उन्हें यही अधिकार था कि द्विजों की तरह वे भी यज्ञ करके लोक और परलोक में सुख भोगने की योग्यता प्राप्त करें। उस समय का समाज, सचमुच ही, बौद्धिक संकट का सामना कर रहा था। जन-साधारण की कठिनाई यह थी कि यज्ञ को छोड़ कर उसके आगे धर्म का कोई और मार्ग नहीं था।”[22] और उस समय यज्ञों में पशु बलि आम बात हो गयी थी। लाखों की संख्या में जन-साधारण के लिए एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जिसमें पशु-बलि क्रूरता एवं आडम्बर न हो और मनुष्य अतिभोग से भी दूर रहे, जिसकी पूर्ति बौद्ध धर्म ने की। और समाज का एक वैकल्पिक ढांचा तैयार किया। यह ढांचा किन लोगों के लिए था,इसका उत्तर हमें जयशंकर प्रसाद के नाटक ‘चन्द्रगुप्त’ से मिलता है (भले वह ब्राह्मणवादी मानसिकता से दिया हो)। जयशंकर प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य के मुख से बौद्ध धर्म के बारे में कहलवाया है कि “वेश्याओं और शूद्रों के लिए एक धर्म की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति बौद्ध धर्म के रूप में हुई।”[23] इससे यह समझने में दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि बौद्ध धर्म में सामान्य लोगों का सबसे ज्यादा

समावेश हुआ है। गौतम बुद्ध ने जन-साधारण को शुद्धता का पथ(धम्म-चक्र प्रवर्तन) उनकी भाषा में दिया कि "कोई भी आदमी जो अच्छा बनना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कोई अच्छाई का मापदंड स्वीकार करें। मेरे पवित्रता के पथ के अनुसार जीवन के पांच मानदंड हैं -1)किसी प्राणी की हिंसा न करना, 2) चोरी न करना, अर्थात् दूसरे की चीज को अपनी न बना लेना, 3) व्यभिचार न करना, 4)असत्य न बोलना,5)नशीली चीजों का ग्रहण न करना।"[24] ये मनुष्य की अच्छाई-बुराई मापने के मापदंड हैं। गौतम बुद्ध ने लोगों को यह बताया कि मनुष्य दुखी है, दुःख अकारण नहीं है, इस दुःख का निरोध संभव है और इस निरोध का मार्ग भी। बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य हैं, जिसकी व्याख्या निम्नलिखित रूप से की जाती है-

"1.दुःख आर्य सत्य है- जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है; व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है,अप्रिय भी दुःख है और इच्छा करने पर किसी चीज का न मिलना भी दुःख है।

2.दुःख समुदाय आर्य सत्य है- अर्थात् मनुष्य को जो भी दुःख होते हैं, वे किसी-न-किसी कारण को लेकर। यह कारण तृष्णा का कोई-न-कोई कारण रूप होता है, जैसे-जन्म लेने की तृष्णा, खुश होने की तृष्णा, सुख भोगने की तृष्णा। जब-जब तृष्णा की पूर्ति में बाधा पड़ती है,तब-तब मनुष्य दुखी होता है। असल में, तृष्णा और दुःख में कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

3.दुःख निरोध आर्य सत्य है- अर्थात् दुःख के दूर करने का उपाय उनके कारण को दूर करना है। तृष्णा का सर्वथा त्याग, वासना में लीन नहीं होने की योग्यता और जिन-जिन कारणों से मनुष्यों को दुःख होते हैं, उन-उन कारणों से मुक्त होने का भाव, यह दुःख निरोध है।

4.दुःख निरोध-गामिनी-प्रतिपद आर्य सत्य है-इसका अर्थ यह है कि दुखों से छुटने का मार्ग भी है। इस उपदेश के अन्दर उन आठ प्रकार के आचरणों की गिनती है, जिनका पालन करके मनुष्य दुखों के कारणों का नाश कर सकता है। ये आष्टांगिक मार्ग इस प्रकार हैं-1.सम्यक दृष्टि: यह दृष्टि रखना कि जीवन में दुःख है, दुःख अकारण नहीं, दुःख दूर किये जा सकते हैं तथा दुखों के दूर करने के उपाय भी हैं। अर्थात् बुद्ध देव ने जो चार आर्य सत्य कहे हैं, उनमें अटल विश्वास रखना। 2.सम्यक संकल्प: निष्कर्मता-सम्बन्धी संकल्प यानी जो कर्म करने योग्य नहीं है, उन्हें करने का संकल्प;अद्रोह-सम्बन्धी संकल्प, अहिंसा सम्बन्धी संकल्प इत्यादि। 3. सम्यक वचन: झूठ बोलने से बचना, चुगली करने से बचना, कड़ी बात कहने से बचना और बकवास में भाग लेने से बचना। 4.सम्यक कर्मान्त: प्राणी-हिंसा नहीं करना, जो दिया नहीं गया है उसे नहीं लेना, दुराचार से बचना, भोग के अतिचार से बचना। 5.सम्यक व्यायाम: दुर्व्यसन और कुटेव को छोड़ने की कोशिश करना, मन में पाप के भाव जगत हों तो उन्हें दबाने का प्रयत्न करना, मन में जो अच्छे भाव पैदा हों, उन्हें बढ़ाने की कोशिश करना, संक्षेप में, मानसिक दोषों को पराजित करके अपने व्यक्तित्व को निर्मल और पूर्ण बनाने के लिए प्रयास

करते रहना। 6.सम्यक आजीव: गलत रोजगार से अगर रोजी चलती हो तो उसे छोड़कर ऐसे रोजगार में लगना, जिससे धर्म नहीं बिगड़ता हो। 7.सम्यक स्मृति: शरीर में बुढ़ापे, रोग और पाप के बीज हैं, इसका ध्यान रखना और क्षण-क्षण भीतर से जागरूक रहकर वासना दलन और ज्ञान का विकास करना। 8.सम्यक समाधि: चार प्रकार के ध्यान जिनमें वितर्क और विचार से मन के भावों को सुलझाया जाता है, शांति और एकाग्रता से अपने-आपको जानने की कोशिश की जाती है और सुख तथा दुःख दोनों से अलिप्त रहने की भावना का विकास किया जाता है।."[25] ये सारे उपदेश बौद्ध धर्म के त्रिपिटक में हैं। जिनको रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संक्षिप्त में प्रस्तुत किया है। इन उपदेशों को देखने के बाद –जो लोग कर्मकांड, पशु-बलि आदि से त्रस्त थे- वे लोग इस धर्म में शामिल हुए। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' जी का कहना है –"समाज में जो वर्ण ब्राह्मण से जितना दूर था, वह बौध धर्म की ओर उतने ही वेग से खिंचा। चूँकि बुद्धदेव जन्म से क्षत्रिय थे, इसलिए, ब्राह्मण पहले उनकी ओर जाने में झिझके। आरंभ में, वैश्यों और शूद्रों में तथागत को अधिक अनुयायी मिले। शूद्रों को तो यह धर्म बहुत ही भला लगा, क्योंकि बुद्धदेव जाति-प्रथा के खिलाफ थे।"[26] और बौद्ध धर्म में सभी मनुष्य समान हैं। इससे ब्राह्मणी धर्म के श्रेष्टता पर प्रश्न चिन्ह लगा था। लेकिन बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रभाव को देखते हुए धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्ग भी इस धर्म में घुसता चला गया और कुछ ब्राह्मण लोगों ने पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर, बुद्ध महानिर्वाण के बाद संस्कृत में भी बौद्ध धर्म पर ग्रन्थ लिखे और बहुत सारे

क्षेपक बौद्ध धर्म में समाविष्ट हो गए। जिसमें बुद्ध को विष्णू का दसवां अवतार घोषित करना भी है।

इन क्षेपकों के सन्दर्भ में डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर कहते हैं-"बौद्ध त्रिपिटक और उसकी अट्टकथाएँ समुद्र की तरह विशाल हैं। उन्हें कंठस्थ कर सकना सचमुच एक बड़ी असाधारण बात थी। एक से अधिक बार ऐसा हुआ है कि भगवान बुद्ध ने जो कुछ कहा, उसकी 'रिपोर्ट' ठीक-ठीक नहीं हुई। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में ही कई बार उनके वचनों की 'रिपोर्ट' की बात उन तक पहुंची थी।"[27] वे आगे कहते हैं-" 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' के बारे में जब-जब गलत रिपोर्ट हुई है, उसके अनेक अवसर हैं। इन सिद्धांतों को ब्राह्मणी 'धर्म' में भी स्थान प्राप्त है। इसलिए भाणकों(बुद्ध के उपदेश को कंटस्थ करने वाले) के लिए अपेक्षाकृत सुगम था कि वह बौद्ध-धर्म में ब्राह्मणी-धर्म की भी खिचड़ी पका दें।"[28] इसलिए डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने भी यह माना था कि बौद्ध धर्म में जो भी बुद्धिसंगत और तर्कसंगत है वही 'बुद्ध वचन' है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि गौतम बुद्ध ने मनुष्य मात्र के कल्याण की बात अपने वचनों में की है और मनुष्य के कल्याण से सम्बन्धित जो चीजें नहीं हैं, उस पर उन्होंने मौन रखा था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म में सभी मानव प्राणी समान हैं। उसमें कहीं पर भी उच्च-नीचता का भाव नहीं है। बुद्ध धर्म ने ईश्वर को धर्म का केंद्र नहीं बनाया और नाही आत्मा की मुक्ति के लिए धर्म को केंद्र

बनाया और नाही पशु-बलि को धर्म का केंद्र बनाया। उन्होंने धर्म के केंद्र में मनुष्य को रखा और कपोल-कल्पित स्वर्ग-नरक, परमात्मा को अस्वीकार किया। बौद्ध धर्म ने यह दिखाया कि धर्म का कार्य विश्व का पुनर्निमाण करना है, उसे प्रसन्न करना है,उसकी उत्पत्ति और अंत की व्याख्या करना नहीं। दुःख के सन्दर्भ में उनका कहना है कि स्वार्थों के टकराव के कारण दुःख मिलता है और उसके समाधान का एकमात्र तरीका अष्टांग मार्ग का अनुसरण करना है। गौतम बुद्ध को अहिंसा के सिद्धांत के साथ जोड़ा जाता है। लेकिन वे युद्ध के सन्दर्भ में कहते हैं कि युद्ध यदि सत्य तथा न्याय के लिए हो तो उसे निश्चित रूप से करना चाहिए। युद्ध कभी-भी अपने स्वार्थ तथा पूर्वाग्रह से युक्त होकर नहीं करना चाहिए। इसलिए उनके शिष्य राज परिवार से भी थें। अत: बौद्ध धर्म का मनुष्यमात्र के लिए यही कहना था कि जहाँ तक हो सके सबसे मैत्री तथा भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए!

2.3 सिद्ध-नाथ और संत मत

मानव जाति की विकास यात्रा में संतों के संघर्षपूर्ण आंदोलनों का विशेष स्थान रहा है। इसलिए कि उन्होंने तत्कालीन परस्थितियों को बदलने का प्रयास बहोत ही पुरजोर तरीके के से किया था। हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति आन्दोलन की दो प्रमुख धाराएँ हैं –सगुण और निर्गुण। निर्गुण धारा के रचनाकारों को संत कहा जाता है और सगुण मत के रचनाकारों को भक्त। हम निर्गुण धारा के संत परम्परा पर यहाँ चर्चा करेंगे। सबसे पहले तो हमें

यहाँ यह विचार करना पड़ेगा कि संतों की विद्रोही वाणी का स्त्रोत क्या है? क्या संत पहली बार जाति-व्यवस्था पर प्रहार कर रहे थें.? नहीं, चूँकि यह प्रतिरोध की परम्परा चार्वाक, गौतम बुद्ध और सिद्ध-नाथों से होते हुए संतो के पास आयी थी। दरअसल, राहुल सांकृत्यायन ने उपरोक्त प्रश्नों पर विचार किया है और तमाम उदाहरण देकर संतमत को आरंभिक सिद्ध मत से जोड़ा है।[29] बजरंग बिहारी तिवारी इस सन्दर्भ में कहते हैं- “सिद्ध संप्रदाय बौद्ध मत का परिवर्तित रूप है और बौद्ध दर्शन ऊँच-नीच आधारित ब्राह्मणी समाज व्यवस्था के खिलाफ एक सार्थक लड़ाई लड़ चुका था। ईसा की छठी शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने ‘प्रमाणवार्तिक’ में लिखा था – ‘वेद प्रमान्यं कस्यचित कर्त्रवाद: स्नाने धर्मेच्छा जातिवादा वलोप:। संता पारम्भ: पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जड़ये।।’ (अर्थात) वेदों को स्वत: प्रमाण मानना, जगत का रचयता मानना, स्नान करने मात्र से धर्म की पूर्ति मानना, ऊँची-नीची जाति मानना और शरीर को संताप देकर पाप का क्षय मानना- ये पांच नष्टबुद्धि लोगों की जड़ता की निशानियाँ हैं।”[30] सिद्ध सरहपा बौद्ध-दर्शन के इसी आधार पर टिके रहकर उस चिंतन धारा को आगे बढ़ा रहे थे। सिद्धों की रचना चर्यापद कही जाती है। चर्या का आशय जीवन चर्या से है। जो रोजमर्रा के काम हैं, आजीविका के लिए किया जाने वाला धंधा है उसे ही अध्यात्म की ऊँचाई तक पहुंचा देना इस साधना पद्धति की विशेषता है। सरहपा बाण बनाने के काम से जुड़े थे, लुइपा मछली पकड़ते थे, तैलोपा तिलों से तेल निकालते थे, तत्तिपा जुलाहे थे। सिद्ध होने के बाद भी इन्होंने

अपनी चर्या नहीं छोड़ी थी। इसलिए हम कह सकते हैं कि सिद्ध श्रमण परम्परा के वाहक थे। दरअसल, “श्रमण संकृति उत्पादक वर्ग की संस्कृति है और ब्राह्मण संस्कृति अनुत्पादक वर्ग की संस्कृति है। श्रमण संस्कृति उत्पादक वर्ग की संस्कृति होने के नाते श्रमजीवी वर्ग की संस्कृति जनसंस्कृति कहलाती है तो परजीवी वर्ग की संस्कृति, अभिजन की संस्कृति वर्चस्ववादी संस्कृति कहलाती है।”[31] यहाँ पर तेजसिंह ने बहुत ही आसान और सरल तरीके से ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति का अंतर स्पष्ट किया है। सिद्ध अपनी श्रमण परम्परा के अनुसार ही अपने-अपने व्यवसाय में लगे हुए थे और चर्यापद भी लिख रहे थें। इन्हीं सिद्धों की परम्परा में निर्गुण संत भी आते हैं। इस संदर्भ में बजरंग बिहारी तिवारी कहते हैं- “वहां(निर्गुण) भी साधना और गृहस्थी में, अध्यात्म और श्रम में विरोध नहीं है। सगुण भक्त जहाँ काम धंधे से दूर प्रायः मंदिरों पर आश्रित रहकर या दानदाताओं की कृपा पर अवलंबित रहकर जीवन-यापन करते हैं वहीं कबीर जुलाहे का काम करते हैं, रैदास और उनके परिवार वाले जूते गांठने और मरे जानवरों को ढ़ोने के काम से जुड़े हैं, दादू धुनियाँ हैं, सदना मांस बेचते हैं....इनके अनुसार जीविका के लिए उद्यम करना साधना में बाधक नहीं होता।”[32] इसलिए सिद्धों की श्रमण परम्परा संतों तक निर्भीक रूप से आती है।

जिस तरह से हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में नाना मतों के लोगों के प्रवेश से हीनयान और महायान शाखाओं ने जन्म ले लिया था ठीक उसी प्रकार सिद्धों में चौरासी सिद्धों का समावेश था उसमें 28 शूद्र जाति से थे

बाकि क्षेत्रीय, ब्राह्मण और कायस्थ थे। इसलिए यहाँ पर भी नाना मतों का समावेश हुआ था। अत: इनमें भी नाना मतों का समावेश होना स्वाभाविक था। राहुल सांकृत्यायन जी ने इनके रहन-सहन और अन्य प्रवृतियों के बारे में लिखा है- “वज्रयान के विद्वान प्रतिभाशाली चौरासी सिद्ध विलक्षण प्रकार से रहा करते थे। कोई पनही बनाया करता था, इसलिए उसे पनहीपा कहते थे। कोई कम्बल ओढ़े रहता था, इसलिए उसे कमरीपा कहते थे। कोई डमरू रखने से डमरूपा कहा जाता है। कोई ओखल रखने से ओखरीपा। ये लोग शराब में मस्त, खोपड़ी या प्याला लिए श्मशान या विकट जंगलों में रहा करते थे। जन साधारण को जितना ही ये लोग फटकारते थे,उतना ही लोग इनके पीछे दौड़ते थे। लोग इन सिद्धों को अद्‌भुत चमत्कारों और दिव्य शक्तियों के धनी समझते थे। ये लोग खुल्लम-खुल्ला शराब और स्त्रियों का उपभोग करते थे। राजा अपनी कन्याओं तक को इन्हें प्रदान करते थे। ये लोग त्राटक या हेप्नाटिज्म की कुछ प्रक्रियाओं से वाकिफ थे। इसी बल अपने भोले-भाले अनुयायिओं को कभी-कभी कोई चमत्कार दिखा देते थे। इन पांच शताब्दियों में धीरे-धीरे एक तरह से सारी भारतीय जनता इनके चमत्कार में पड़कर काम व्यसनी, मध्यप और मूढ़ विश्वासी बन गयी थी।”[33] राहुल जी के इस वक्तव्य को देखकर यह तो स्पष्ट हो रहा है कि सिद्धों में तंत्र-मंत्र और चमत्कारों का बहुत चलन था, लेकिन इसमें भी एक बात है कि इस तरह के विचारों का प्रवेश सिद्धों में कैसे हुआ? और इसका सीधा सा उत्तर यही है कि सिद्धों में नाना मतों के समावेश से ही इन सारी बुराईयों का समावेश हो गया

था। इन सिद्धों में सरहपा ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने इन बुराईयों का विरोध किया। वे लिखते हैं- “पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणअ। देहहि बुद्ध वसंत ण जाणअ।”[34] यह उन ब्राह्मणों का खंडन है जो महायानी पंडित है और शास्त्रों में ही बुद्ध का बखान करते हैं। वे अपने अंदर के बुद्ध को नहीं जानते। सरहपा राख लपेटे, भारी-भारी जटाएं रखने वाले और जनता को मूढ़ने वाले शैवों का भी खंडन करते हैं। वे लिखते हैं- “जइ ण ग्गाविअ हाइ मुत्तिता सगइ सिआलट। लोपु पाडनें अत्थी सिद्धि ता जुबइ णिअम्बह।।”[35] सरहपा की विचारधारा से निम्नलिखित बातें हमारे सामने आती हैं-

“-सिद्ध गृहस्थ साधु हैं, जिनके लिए गुरू सर्वोपरि हैं।

-वे तंत्र-मंत्र के विरोधी हैं।

-शास्त्र मरुस्थल के समान है, जिनमें आदमी भटक कर प्यासा ही मर जाता है।

-सिद्ध भाषा लोकभाषा है, संस्कृत नहीं है।

-सिद्ध सहजयानी हैं, वे जीवन के भोगों को त्याज्य नहीं मानते, वरन उनमें आसक्ति त्याज्य मानते हैं।

-वे जटा-जूट धारी, नग्न रहकर, भस्म लपेटकर, मूंड मुड़ाकर तपस्या या योग करने वालों का खंडन करते हैं।

-वे मन या चित्त की विशुद्धि और मुक्ति पर जोर देते हैं।

-वे संसार शून्य नहीं है, ऐसा मानते है।

-वे मानते हैं कि परमपद शून्य और निरंजन है।

-वे ब्राह्मण वेद, वर्णव्यवस्था, जैन-बौद्ध सबका खंडन करते हैं।

-वे शैव (पाशुपत) का खंडन करते हैं।

-वे ईश्वर, आत्मा को नहीं मानते।

-वे देह में ही सारे तीर्थ हैं, ऐसा मानते हैं।"[36]

इन्हीं बातों का संतों पर सीधा प्रभाव हम देख सकते हैं। संतों पर बात करने से पहले हम नाथ सम्प्रदाय पर संक्षिप्त बात करेंगे।

सिद्धों का काल आठवीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक माना जाता है हालांकि राहुल सांकृत्यायन जी का मत है कि इसके बाद भी सिद्ध होते रहे हैं। पर ऐतिहासिक तथ्य यही है कि अंतिम कालपा के बाद-जिनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है- सिद्धों की सूची बंद कर दी गयी थी। इन चौरासी सिद्धों में से ही नाथ सम्प्रदाय निकला है, जिसने बारहवीं से चौदहवीं सदी तक की संत काव्यधारा को प्रभावित किया था। बहुत सारे नाथों को भी सिद्धों में गिनाया गया है। जिनमें मीनपा, रोरक्षपा, नागर्जुन, कन्हपा, चर्पटीपा, कन्तालिपा और जालंधर आदि। इसलीए हम कह सकते हैं कि सिद्धों के समय

से ही नाथों का अस्तित्व था, बाद में जाकर वे अलग-अलग संप्रदाय में विभक्त हुए हैं। इसे हम कँवल भारती के निम्नलिखित वक्तव्य से और अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं, वे लिखते हैं- “नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ माने जाते हैं। सिद्ध सूची में इनका नाम जालंधरपाद है, जो ब्राह्मण थे। इनके शिष्य मछेन्द्रनाथ थे,जो मछुवे या मछुआरे थे। इनके पिता मिनपा सिद्ध थे, नाथ सम्प्रदाय में आकर मीननाथ हुए। इन्हीं मछेन्द्र या मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य गोरखनाथ थे, जिन्होंने नाथ सम्प्रदाय को एक आन्दोलन का रूप दिया।”[37] इससे पता चलता कि नाथ सम्प्रदाय को स्थापित करने वाला एक ब्राह्मण सिद्ध जालंधर पाद था। यह पाशुपति यानि शैव था। इसी कारण से वे स्वयं शिव भी माने जाते हैं। यही कारण है कि सरहपा आदि सिद्धों का वे विरोध करते थे चूँकि वे शैवों का खंडन करते थे। इस प्रकार ‘नाथ सम्प्रदाय’ की दार्शनिकता सैद्धांतिक रूप से शैव मत के अंतर्गत और व्यवहारिकता की दृष्टि से हठयोग के तहत मानी जाती है। अत: निश्चित रूप से हम यह कह सकते हैं कि सिद्धों और नाथों उद्भव बौद्ध धर्म की महायान शाखा से ही हुआ है और इसमें अनेक मतों के लोगों के समावेश से अलग-अलग सम्प्रदाय एवं मत अस्तित्व में आयें।

सिद्ध-नाथ मत के प्रभाव से ही संत मत अस्तित्व में आया। यह पहले भी कहा जा चुका है कि संतों ने सामाजिक परिवर्तन की स्वस्थ परम्पराओं को आगे बढाया। मोहनदास नैमिशराय इस सन्दर्भ में कहते हैं कि –“ मध्यकाल में

समूचे देश में सामाजिक परिवर्तन की एक ऐसी हवा चली, जिसने मनुष्य के भीतर सोई भावनाओं को जगाया। उसे नया साहस प्रदान किया, इस रूप में कि वह रहस्य की उन गुत्थियों को सुलझा सके, जिनमें वह अभी तक जकड़ा था। इसे तत्कालीन समाज में पुनरुत्थान भी कहा जा सकता है। बकौल एवडिन अंडरहील, यह पुनरुत्थान एक हद तक परम्परागत हिन्दू धर्म में बढ़ते हुए कर्मकांड के खिलाफ प्रतिक्रिया थी जिसका उन दिनों अच्छा-खासा प्रभाव हुआ था; जिसने दलित और पिछड़े वर्ग को हिन्दू धर्म और उसकी वर्ण व्यवस्था की भीतरी परतों में छुपी सामंती प्रवृत्ति के बारे में सोचने पर बाध्य किया था।"[38] डॉ. धर्मवीर मध्यकालीन समय को इस तरह से व्यक्त करते हैं- "दलित जातियों में से मध्यकालीन इतिहास में निर्गुण संतों का जन्म लेना इस देश में विदेशी प्रभाव के कारण जन्मी क्रांति का हिस्सा है। उस समय इस देश में मुसलमानों की समाज व्यवस्था आ चुकी थी। यहाँ के हिन्दू धर्म ग्रंथों और शास्त्रों में विदेशी लोगों से सम्पर्क में आने की मनाही भी की गयी थी जिसमें जल यात्राओं को निषिद्ध किया गया था। शास्त्रकारों को यह डर रहता था कि कहीं भारतीय समाज के दलित-पीड़ित लोग विदेशी समाजों से अपने समाज की तुलना करने न बैठ जाएँ। तुलना करने में उन्हें यह पता चलता था कि दुनिया में और भी समाज हैं तथा अस्पृश्यता, जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था से भिन्न संसार में अन्य जातियों की अलग समाज व्यवस्थाएं भी हैं। बाद के दौर में ऐसा हुआ भी। आखिर कूपमंडूक बने हिन्दू कब-तक दलितों के मुक्ति-द्वारों को बंद रखते। लोगों में जिज्ञासाएं उभरी। परिणामस्वरूप

मुसलमान और हिन्दू समाज और जातियों के परस्पर भेदभाव, विषमता आदि का विश्लेषण दलित जाति के लोग करने लगे थे।"[39] यही आचार्य शुक्ल ने भी कहा था कि भक्ति-चेतना को इस्लामी आक्रमण से खिन्न और पराजित भारतीय जनता की निराशा की व्यंजना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा कि 'यदि भारत में इस्लाम न भी आया होता तो भी भक्ति काव्य की धारा इसी रूप में होती।' खैर, जो भी हो लेकिन इस्लाम के प्रभाव से संतों की वाणी धारदार हुई इसमें कोई शक नहीं चूँकि भारतीय समाज एक नयी समाज व्यवस्था से परिचित हो गया था और वहाँ न वर्ण व्यवस्था थी, न जाति-व्यवस्था। इसलिए सबसे पहले निर्गुण संतों ने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था पर प्रहार किया, वही भक्त कवि भगवान गुणगान, अपनी परम्परा और हिन्दू व्यवस्था को स्थिर रखने की कोशिश करते रहें। इसलिए हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत यहाँ पर निराधार सिद्ध होता है चूँकि इस्लाम न आया होता तो संतों की वाणी कभी भी इतनी धारदार न होती। जैसे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा वैसी धारा भी अस्तित्व में थी जो भक्त कविओं की धारा थी, उनमें किसी तरह का बदलाव दिखाई नहीं देता। वैसे देखा जाय तो सभी तरह के सुधारवादी आन्दोलन के साथ ऐसा ही होता रहा है। वे आन्दोलन चाहे किसी भी युग में हुए हों। इसका मुख्य कारण तो यही माना जा सकता है कि समता और समानता की धारा जितना आगे बढ़ती, रूढ़िवादी जमात उसी धारा को उतना ही पीछे ले जाने के प्रयास करती रही है। अनेक युगों के इतिहास में इस तरह की कशमकश देखी जा सकती है। जहाँ

नवजागरण के क्रांतिकारी दस्तावेज हमारे सामने हैं, वहीं रूढ़ियों तथा परम्पराओं की सनातनी धरोहर भी तत्कालीन भारतीय को अपनी उपस्थिति बराबर याद दिलाती रहती है। खैर, मध्यकालीन संतों की बात की जाय तो उन्होंने तत्कालीन समय में मानवमात्र के लिए अहितकारी परम्पराओं का बहुत ही निर्भीक होकर विरोध किया था, जिसके कारण संतों की प्रासंगिकता आज भी बरक़रार है। आज के दलित साहित्य के तरह प्रखर विद्रोह न सही, लेकिन तत्कालीन समय में उन्होंने जो अपना मत प्रकट किया वह लाजबाब था।

आज के सन्दर्भ में दलित चिंतकों में संतमत को लेकर मतभेद हैं। कुछ दलित चिन्तक संतों के साथ दलित साहित्य का संबंध जोड़ना चाहते हैं या दलित चेतना की शुरुआत संतों से मानते हैं वहीं कुछ दलित चिन्तक इसका विरोध करते हैं। इन मतभेदों को हम विस्तृत रूप से यहाँ पर देखेंगे। सबसे पहले तो डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने संतों के सन्दर्भ में लिखा है-"जहाँ तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग अच्छे हों, वे सोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं पहला- किसी भी संत ने जाति-व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पांत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मानव बराबर हैं। दूसरा कारण यह था कि संत की शिक्षा प्रभावहीन रही हैं, क्योंकि लोगों को

पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसलिए संत अनुसरण करने का उदाहण नहीं बने।"[40] डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के वक्तव्य के अनुरूप ही बाबूराव बागूल लिखते हैं-"युद्ध काल में जन्मा संत साहित्य पूर्ण रूपेण वर्ण-व्यवस्था द्वारा स्थापित वैचारिकता और साहित्यिक आदर्शों में बंधकर रह गया है। संस्कृत साहित्य द्वारा स्थापित संकल्पना, सिद्धांत व नाटक और शोषण, दमन के तत्वों को संत साहित्य ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया अभिव्यक्त किया। शोषण व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था इससे और अधिक मजबूत हुई। जाति-व्यवस्था और उससे उपजी मानसिकता को इस्लाम ने भी स्वीकार कर लिया था। संतों की भक्ति समाज में समता भाव स्थापित करने में असमर्थ रही है। उनके द्वारा की गयी व्याख्याएँ आदर्श रूप बनकर समाज में अपना प्रभाव नहीं जमा पाई, भक्तिमार्ग सर्वत्र फैला, लेकिन भक्तगणों का समूह जाति-व्यवस्था में ही फँसा रहा। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, आत्मवाद,देववाद आदि मान्यताएं अधिक गहराती गयीं। जिससे यथास्थितिवाद को बढ़ावा मिला। 'जो भी होता है, ईश्वर की मर्जी से होता है।' की भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही। हिन्दू सामंतवाद की वैचारिक और सामाजिक व्यवस्था भारतीय समाज में जैसे थी वैसे ही बनी रही।"[41] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर और बाबूराव बागूल के उपरोक्त दोनों वक्तव्यों को चोखा मेला के अभंग से स्पष्ट समझा जा सकता है। चोखा इस अभंग में कहते हैं-

शुद्ध चोखा मेला। करी नामाचा सोहला।।

जाति हीन मी महार। पूर्वी निलाचा अवतार।।[42]

दरअसल, संतों ने पूर्वजन्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क को कही-न-कही स्वीकार किया है। डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी संतमत और दलित साहित्य के सन्दर्भ में कहते हैं-"संतमत दलित लेखन के लिए प्रेरणा स्त्रोत है, आदर्श नहीं। असल में, दलित लेखन धार्मिक मुहावरों के इस्तेमाल से बचता है, बचना चाहता है। वह ईश्वर से याचना नहीं करता। वह ईश्वरवादी नहीं है। इस अर्थ में उनका संबंध बौद्ध सिद्धों से जुड़ता है। सिद्ध भी ईश्वर जैसी सत्ता में विश्वास नहीं करते। दलित लेखन पाप-पुण्य जैसी पारस्परिक श्रेणियों में अविश्वास जताता है। संतमत बहुत कुछ उसे स्वीकारते हुए चलता है। संत साहित्य और लेखन में एक अंतर इस बात का भी है कि दलित रचनाकार भूख को, दरिद्रता को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। उनकी 'आपबीतियाँ' ऐसे प्रसंगों से भरी पड़ी हैं। संतों की बानियों में भूख अनुभव कम ही व्यक्त हुआ है। घोर गरीबी के कष्ट नहीं लिखे गए हैं। दलित रचनाकार आत्मसम्मान के साथ आर्थिक प्रश्न को भी केंद्र में रखते हैं। संतों के यहाँ इसकी गुंजाइश नहीं बनी है।"[43] बजरंग बिहारी तिवारी का यह वक्तव्य उन दलित चिंतकों के लिए उत्तर है जो कहते हैं 'आधुनिक दलित साहित्य की जड़े कबीर और रविदास की वाणी में देखी जा सकती हैं।'[44] और 'उस समय समूचे देश में सामाजिक परिवर्तन की एक ऐसी हवा चली, जिसने मनुष्य के भीतर सोई भावनाओं को जगाया।'[45] इसलिए हम यहाँ पर कह सकते हैं कि संत साहित्य से दलित

साहित्य प्रेरणा तो ले सकता है लेकिन आदर्श रूप में उसको स्वीकार नहीं कर सकता। वैसे देखा जाय तो संतों की परम्परा बौद्धों, सिद्धों, नाथों से होते हुए आयी थी और यह एक लंबा समयांतर है। अत: इतने लंबे समयांतर के कारण कहीं-कहीं वे(संत) पारंपरिकता को अपनाते हुए दिखते हैं। लेकिन फिर भी उस समय के तथाकथित मुख्यधारा की विचारधारा के विरुद्ध बोलने का साहस विचारणीय है।

2.4 आधुनिक दलित चिंतक

भारतीय समाज में आदिकाल से ही दलितों की स्थिति बड़ी ही दयनीय रही है। अठारहवीं सदी तक उनकी स्थिति में सुधार हेतु कोई गंभीर प्रयास नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी को आधुनिक भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण एवं सामाजिक सुधार का काल माना जाता है। इसका आरंभ राजा राममोहन राय से माना जाता है। उन्होंने 'ब्रह्म समाज' के माध्यम से धार्मिक एवं

सामाजिक सुधारों की दिशा में प्रथम प्रयास किया था। किन्तु राजा राममोहन राय सहित 'ब्रह्म समाज' के अन्य समाज-सुधारकों का ध्यान उच्च जातीय समाज में प्रचलित दोषों को दूर करने तक ही सीमित रहा। दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' का उद्देश्य वैदिक समाज की रचना करना था और इस दृष्टि से यह आन्दोलन प्रगतिशील नहीं था, यद्यपि इन्होंने सभी जाति के लोगों को वेदों को पढ़ने का अधिकार देने की बात कही, किन्तु दलितों में शिक्षा का घोर अभाव और उच्च जातियों के प्रताड़ना के कारण वे इसका लाभ(?) उठाने से वंचित रह गए। रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने मानव सेवा को ईश्वरसेवा बताया और निर्धनों की सेवा पर विशेष बल दिया। उन्होंने किसी व्यवसाय को ऊँचा-नीचा नहीं माना और छुआछूत का विरोध किया। किन्तु ये लोग भी दलितों की स्थिति को सुधारने में सहायक नहीं हो सके, जिसके कारण दलितों की स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। दक्षिण भारत में स्थापित थियोसोफिकल सोसायटी ने दलितों की स्थिति में सुधार लाने के लिए कुछ प्रयास अवश्य किए थे। जैसे, इस संस्था के संस्थापक कर्नल अल्काट ने दलितों के बच्चों को शिक्षित करने के उद्देश्य से 1894ई. में एक विद्यालय खोला तथा एनी बीसेंट ने उच्च जाति के लोगों को दलितों के प्रति ध्यान देने को कहा किन्तु फिर भी इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं किया गया और दलितों को इसका लाभ नहीं मिला बल्कि पूर्व भांति वे सामाजिक एवं आर्थिक अवसरों से वंचित रहे। इसका मुख्य कारण उनके द्वारा किया गया प्रयास वास्तविक न होकर दलितों को ईसायत की ओर मोड़ने का

एक प्रयास था। इसी तरह 1897ई. में के.रंगा राव ने मंगलोर में दलित बच्चों हेतु नि:शुल्क विद्यालय की स्थापना की तथा 1898ई. मैडम ब्लेवेटस्की(थियोसोफिकल सोसायटी की दूसरी संस्थापक) की स्मृति में दूसरा विद्यालय, 1899ई. में दामोदर के. भावलकर के नाम तीसरा और पेरिया संत एवं विद्वान तित्वलुक के नाम पर चौथा विद्यालय स्थापित किया गया। किन्तु इसका लाभ दलितों को बहुत कम मिल पाया।'[46] महाराष्ट्र में एम. जी. रानाडे और उनके प्रार्थना समाज ने 1898ई. में 'दलित वर्ग मिशन' की स्थापना करके जाति-प्रथा के खिलाफ आन्दोलन चलाने का प्रयास किया किन्तु हिन्दू अस्मिता के दबाव में इनका प्रयास असफल रहा और दलितों को इसका लाभ नहीं मिला। ब्रिटिश कंपनी शासन के अंतर्गत 1813ई. के चार्टर में ईसाई मिशनरियों को भारत में जाकर धर्म प्रचार करने की अनुमति मिलने के बाद ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू समाज की स्थिति का लाभ उठाकर दलितों के लिए विद्यालयों एवं चिकित्सालयों की स्थापना की। किन्तु दलितों के प्रति अंग्रेजों के उदार होने का मुख्य कारण ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना था। "यह एनी बीसेंट ने भी माना कि ईसाई मिशनरियों ने दलितों की सहायता हिन्दू धर्म की निंदा और ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण किया।"[47] 1813ई. के पश्चात् ईस्ट इंडिया कंपनी ने यूरोपियन पद्धति पर बिना भेदभाव के एक वर्नाक्यूलर(देशी भाषा के) विद्यालय स्थापित किया।1821ई. में ब्रिटिश सरकार ने पूना में संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना की जिसमें सभी जातियों को अध्ययन करने की छूट दी गयी लेकिन निम्न जातियों के लोगों के

प्रवेश का विरोध करते हुए ब्राह्मण शिक्षकों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिये। इसलिए दलितों का उस विद्यालय में प्रवेश नहीं हो पाया।

फिर सन 1858ई. में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया कि सरकारी अनुदान से संचालित होने वाले सभी विद्यालय बगैर किसी भेदभाव के सभी जातियों के लोगों के प्रवेश हेतु खुले रहेंगे। परंतु उच्च जाति के प्रबल विरोध ने दलितों तक इसका लाभ पहुँच नहीं पाया। 1888ई. में हंटर आयोग ने दलितों में शिक्षा के प्रसार की सिफारिश तो की किन्तु सामाजिक विरोध के भय से इस संबंध में कोई ठोस कार्य नहीं हुआ। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने प्राथमिक विद्यालयों में दलितों के शुल्क में कुछ छूट तथा माध्यमिक विद्यालयों व कालेजों में छात्रवृतियाँ प्रदान की। लेकिन फिर भी शिक्षण क्षेत्र में दलितों की संख्या कम ही रही। इसके लिए एक कारण यह भी था कि जो भी बच्चे स्कूल जाते थे उनको कक्षा से बाहर बैठना पड़ता था। उस समय अंग्रेजों के स्थल सैना में एक 'महार बटालियन' थी और इस बटालियन के सैनिकों के बच्चों को पढ़ाने काम (अंग्रेज) सरकार करती थी। वैसे तो उस समय में भी दलितों की वास्तविक या यथार्थ स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ लेकिन इसी क्रम में दलित समाज में कुछ ऐसे समाजसुधारक पैदा हुए जिन्होंने दलित समाज की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। और उसका व्यापक प्रभाव पड़ा तथा दलित समाज में चेतना का उद्भव हुआ। इसमें सबसे पहले महात्मा ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले का नाम आता। तत्पश्चात हरिचंद ठाकुर, आयंकाली, नारायण गुरू, छत्रपति शाहू महाराज, रामास्वामी

नायकर पेरियार और डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर आदि का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने दलित समाज के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। जिसको हम संक्षिप्त रूप में यहाँ पर देखेंगे।

2.4.1 महात्मा ज्योतिबा फुले एवं सावित्रीबाई फुले

ज्योतिबा फुले का जन्म सन 1827 ई. में पुणे में हुआ था। पिता का नाम गोविंदराव और माता का नाम चिमनाबाई था। ज्योतिबा जी माली जाति से थे। उनके पिता की पुणे में दुकान(फूलों) थी। जब ज्योतिबा एक वर्ष के थे, उसी समय उनकी माता चिमनाबाई का देहांत हो गया। किन्तु उनके पिता गोविंदराव ने बिरादरी के दबाव के बावजूद दूसरा विवाह नहीं किया।[48] 1833 ई. में ज्योतिबा की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही प्रारंभ हुई। उसके बाद उनकी शिक्षा मराठी पाठशाला में हुई। समाज की पिछड़ी माली जाति के बालक ज्योतिबा का विद्यालय में पढ़ना उच्च जाति के लोगों को पसंद नहीं आया। कट्टरपंथी हिन्दू लोग निम्न जाति के विद्यार्थियों को विद्यालय से बहार निकालने के लिए हर संभव प्रयास करते रहते थे। ऐसे लोगों में कट्टरपंथी नेता दादा प्रभु का नाम सबसे आगे था। उनके इशारे पर 'बंबई नेटिव एजूकेशन कमेटी' द्वारा संचालित विद्यालय से सभी दलित छात्रों को निकाल दिया गया था। इनमें ज्योतिबा भी थे। इसी बीच 13 साल की आयु में ही ज्योतिबा का विवाह पुणे के नजदीक धनकवाणी गाँव के खंडोजी पाटिल की 9 वर्षीय पुत्री सावित्रीबाई से 1840 ई. में कर दिया गया।

ज्योतिबा फुले ने 1841ई. में उर्दू, फारसी के शिक्षक मुंशी गफ्फार बेग और ईसाई पादरी नेटिव की प्रेरणा से स्कोटलैंड मिशन द्वारा चलाए जा रहे विद्यालय में प्रवेश लिया और वहां की वार्षिक परीक्षा में सर्वोच्च अंक प्राप्त किये। इनकी शिक्षा कक्षा सात तक हुई और उस समय उनकी उम्र चौदह वर्ष की थी।

दलित समाज में चेतना उत्पन्न करने में ज्योतिबा फुले का योगदान:-

ज्योतिबा फुले दलितों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन में सुधार लाकर उनमें चेतना पैदा करना चाहते थे। किन्तु यह कार्य किसी एक व्यक्ति द्वारा अकेले करना संभव नहीं था। अतएव ज्योतिबा फुले ने एक संगठन की आवश्यकता महसूस की जिसके माध्यम से सुधार कार्य किया जा सके। राजा राममोहन राय द्वारा 'ब्रह्म समाज' और स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा 'आर्य समाज' की स्थापना करना उनके सामने ज्वलंत उदाहरण थे। ज्योतिबा ने भी 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना कर इसके माध्यम से स्वयं कुछ विधवा विवाह कराए। पुणे जैसे रूढ़िवादी के गढ़ में ग्रामीण विधवाओं के लिए एक आश्रम और एक अनाथालय की स्थापना की। ज्योतिबा का पुत्र यशवंत भी इसी अनाथालय के बच्चों में से एक था।[49] ज्योतिबा फुले ने दलितों में आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना निर्माण की। उस समय दलित राजनीति शून्यप्राय थी किन्तु उन्होंने दलितों में राजनीतिक चेतना पैदा करने का प्रयत्न किया जो डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के राजनीतिक जीवन का

आधार बना। ज्योतिबा फुले 1876ई. में पूना नगर पालिका के सदस्य बने। उन्होंने पूना के पिछड़ों एवं अनुसूचित जातियों की बस्तियों में पानी पहुँचाने हेतु बल दिया। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उच्च जाति के अधिकारी दलितों की निरंतर उपेक्षा करते हैं और अपने हितैषियों की बस्तियों में ही बिजली, पानी और सफाई आदि की व्यवस्था करने पर ध्यान देते हैं। अत: उन्होंने दलितों की बस्तियों में सभी जन सुविधाओं को उपलब्ध कराने हेतु आवाज उठाई। उन्होंने दलितों में मद्यपान जैसी बुराइयों को समाप्त करने के उद्देश्य से पूना में शराब की दुकान खोलने का भी विरोध किया।[50]

ज्योतिबा फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना करने का मुख्य उद्देश्य ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती देना था। यह अपने आप में प्रथम संगठन था जिसका एक मात्र उद्देश्य ब्राह्मण ग्रंथों के प्रभाव से शूद्रों को उनके मानवाधिकारों को बताना तथा उनकों मानसिक एवं धार्मिक दासता से मुक्त कराना था। ज्योतिबा फुले ने हिंदू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'ब्राह्मणवाद' ही हिंदू धर्म का सार है। वे लिखते हैं- "इस धरातल पर मानव समाज ने जितनी धर्म-किताबें लिखी हैं, उनमें से किसी भी ग्रंथ में प्रारंभ से अंत तक समान सार्वजनिक सत्य नहीं है, क्योंकि हर धर्म-किताब में कुछ लोगों ने उस काल की स्थिति के अनुरूप मूर्खता की है।"[51] इसलिए वे सभी धर्म मानवीय प्राणियों के लिए हितकर नहीं रहे। उनमें कई भेद निर्माण हुए और वे एक दूसरे का तिरस्कार करने लगे। यदि ईश्वर को किसी धर्म ग्रन्थ का निर्माण ही करना था तो वह उसे दुनिया की सभी भाषा

की समझ में आने वाली भाषा में बनाता, अलग-अलग धर्मों के लिए अलग-अलग धर्म ग्रन्थ क्यों बनाता।[52] अत: ज्योतिबा फुले ने जनमानस को 'सत्यशोधक समाज' के झंडे तले एक प्लेटफार्म दिया जहाँ बहुत सी उपजातियाँ सफलतापूर्वक संगठित हो सकती थीं। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सत्यशोधक समाज' के निम्नलिखित सिद्धांत[53] निर्धारित किए-

-ईश्वर एक है, सर्वव्यापी निर्गुण, निर्विकार और सरल स्वरूप है। यह प्राणी मात्र में व्याप्त है।

- प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर भक्ति का अधिकार है। सर्व साक्षी परमेश्वर की प्रार्थना और चिंतन के लिए किसी मध्यस्थ की, किसी दलाल की आवश्यकता नहीं है।

-मनुष्य जाति के गुण, उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं।

-कोई भी ग्रन्थ न तो ईश्वर प्रणीत है, न पूर्णरूपेण प्रमाण के रूप में उपलब्ध है।

-परमेश्वर शारीरिक रंग-रूप से अवतार धारण नहीं करता।

-पुनर्जन्म, कर्मकांड,जप-तप या धर्म गोष्ठियाँ, ज्ञानमूलक नहीं है।

'सत्यशोधक समाज' के सीधे-साधे उद्देश्यों से महाराष्ट्र की पिछली एवं अछूत जातियों में प्रारंभ में व्यापक असर हुआ। इस संगठन के द्वारा दलित

होनहार छात्रों को छात्रवृत्ति की व्यवस्था तथा प्रोत्साहन हेतु पुरस्कार एवं रहने, खाने, अध्ययन के लिए छात्रावासों, नि:शुल्क पुस्तकों, प्रोढ़ों के लिए रात्रि पाठशाला आदि का प्रबंध किया गया। 'सत्यशोधक समाज' ने शूद्रों-अतिशूद्रों को कहा कि पुरोहितों को अपने किसी कार्यक्रम में न बुलाएँ, साथ ही विवाह में व्यर्थ खर्च ना करें। चूँकि पिछड़े और दलित ऊँच-नीच का शिकार होने के बावजूद भी देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करने में सबसे आगे थे। वे अपना अधिकतम धन इसी में खर्च करते थे। यह देख 'सत्यशोधक समाज' ने बहुजनों को यह समझाने का अथक प्रयास किया कि पूजा,अर्चना मात्र एक मिथ्या है,इससे दलित समाज का कभी हित नहीं हो सकता। इसलिए दलितों ने मंगल उत्सोवों और विवाहों में पुरोहितो को बुलाना और उनसे तिथियाँ निकलवाना बंद किया।[54] 'सत्यशोधक समाज' ने स्त्री-पुरुष समानता का भाव पैदा करने वाली नई विवाह विधि बनाई। इस विधि में पुरुष प्रधान संस्कृति को समर्थन और स्त्री की गुलामगिरी सिद्ध करनेवाले सारे मंत्र निकाल दिए तथा विवाह के लिए लड़की की सहमति को अनिवार्य माना एवं बालविवाह का विरोध किया।[55] इस प्रकार 'सत्यशोधक समाज' गतिविधियों के परिणामस्वरूप दलितों में सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में एक नई चेतना निर्माण हुई।

तत्कालीन(ज्योतिबा फुले कालीन) व्यवस्था में आर्थिक जीवन के क्षेत्र में सर्वाधिक शोषण एवं अपमान का सामना दलितों को ही करना पड़ा था। कृषि के क्षेत्र में खेती का काम दलित ही करते थे। लेकिन इनके पास जमीन

का मालिकाना हक़ नहीं था। ज्योतिबा फुले ने उनकी समस्याओं के समाधान हेतु अनेक कार्य किये। पुणे जिले में जुनार तालुका के किसानों ने जमींदारों,महाजनों और सरकारी कर्मचारियों के शोषण और मनमानी से तंग आकर उसके विरोध में एक वर्ष तक खेत जोतना बंद कर दिया और उनका सत्याग्रह तभी समाप्त हुआ, जब सरकारी अधिकारियों ने संघर्ष संचालक ज्योतिबा फुले से आकर सुलह कर फुले की बात मान ली। सरकार को 'एग्रीकल्चर ऐक्ट' पास करना पड़ा जिससे किसानों का शोषण कुछ कम हुआ। ब्राह्मण, साहूकार व अंग्रेजों ने किसानों का इतना शोषण किया था कि वे पेट भर अनाज और अंग भर कपड़ों के लिए मोहताज हो गए थे। राजा चाहे किसी का क्यों न हो, किसानों को बर्बादी का मुंह देखना ही था! अंग्रेज सरकार ने भले ही भू-स्वराज व्यवस्था का निर्माण किया हो लेकिन किसान तो भूमिकर और ऋणग्रस्तता के भार से दबता ही जा रहा था। किसान किसी भी किंमत पर फसल उगाने के लिए लाचार थे, इस लाचारी का फायदा सूदखोर और ब्राह्मण ले रहे थे।[56] सही में देखा जाय तो भारतीय किसान व दलित प्रायः लाभ प्राप्ति के लिए नहीं वरन जीवन निर्वाह के लिए खटता है। फुले ने इन साहूकारों, ब्राह्मणों व अंग्रेजों की किसानों, दलितों के प्रति शोषणकारी नीतिओं के प्रति सचेत किया तथा उनको इनसे बचाव के लिए आत्मनिर्भर व स्वालंबी बनने किए प्रेरित किया।

शिक्षा के क्षेत्र में महात्मा ज्योतिबा फुले का योगदान:

ज्योतिबा फुले ऐसे प्रथम दलितों के नायक थे जिन्होंने यह अनुभव किया कि दलितों की दयनीय स्थिति का एकमात्र कारण उनमें शिक्षा का अभाव है। इसलिए वे कहते थें-

“विद्या बिना मति गई,मति बिना गति गई।

गति बिना नीति गई, नीति बिना संपत्ति गई।

संपत्ति बिना शूद्र ध्वस्त हुए,

इतना सारा अनर्थ एक अविद्या से हुआ।”[57]

ज्योतिबा फुले ने शिक्षा के प्रसार हेतु विभिन्न प्रकार की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। शिक्षा के क्षेत्र में सर्वप्रथम उन्होंने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दिया क्योंकि उन्हें इस बात की जानकारी थी कि छत्रपति शिवाजी महाराज को योद्धा और मराठा साम्राज्य का निर्माता बनाने में उनकी माता का ही हाथ था। इस ऐतिहासिक तथ्य से उन्होंने यह भी समझ लिया था कि भावी पीढ़ियों के निर्माण में माता(स्त्रियों) की शिक्षा अति आवश्यक होती है। अतः दलितों के उत्थान हेतु भी उनकी स्त्रियों को शिक्षित करना अनिवार्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ज्योतिबा ने सर्वप्रथम दलित स्त्री-शिक्षा की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनकी दृष्टि में एक बच्चे के लिए उसका घर ही उसका प्राथमिक विद्यालय है और उसकी माता ही उसकी प्रथम शिक्षिका है।

1840 ई. में ज्योतिबा फुले अपने एक घनिष्ट ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोवेंदे से मिलने अहमदनगर जो उन दिनों मिशनरी विद्यालयों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। वहां पर कुमारी फर्रार की देख-रेख में अमरीकन मिशनरी द्वारा स्त्री पाठशालायें संचालित की जा रही थीं। इससे प्रेरणा लेकर ज्योतिबा फुले ने भी पूना में स्त्रियों की पाठशाला खोलने का निश्चय किया।[58] वहां से लौटने के बाद अगस्त 1848 ई. में उन्होंने पूना के बुधवार पेठ मुहल्ले में उनके मित्र सदशिव बल्लाल गोवेंदे की सहायता से दलित जाति की बालिकाओं के लिए एक विद्यालय खोला। गोवेंदे इस विद्यालय में पढ़ने वाली लड़कियों के लिए अहमदनगर से किताबें खरीदकर भेजते थे। इस विद्यालय में नि:शुल्क शिक्षा देने के साथ ही पोशाक, पाठ्य सामग्रियां भी नि:शुल्क दी जाती थीं।

ज्योतिबा फुले के इस कार्य से ब्राह्मणों को अपने विशेषाधिकार के छिन जाने का भय उत्पन्न होने लगा क्योंकि शिक्षण कार्य उनका विशेषाधिकार था और वे शिक्षा को उच्च जातियों तक ही सीमित रखना चाहते थे। निम्न जाति के शिक्षित होने पर उनमें नविन चेतना आने की संभावना थी जिसे वे सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए ब्राह्मणों ने फुले के इस कार्य का खुलकर विरोध किया और उन्होंने माली जाति को उनके विरुद्ध भड़काने का काम किया। यहाँ तक कि उनके पिता गोविंदराव को इतना भड़काया कि उन्होंने ज्योतिबा को ही घर से निकाल दिया। किन्तु ज्योतिबा फुले इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने उद्देश्यों के लिए आगे बढ़ने का प्रयास करते रहे।

लड़कियों का विद्यालय चलाने में उनके सामने बड़ी समस्या महिला शिक्षिकाओं की अनुपलब्धता थी। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने सबसे पहले अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाया और फिर विद्यालय में शिक्षिका के रूप में नियुक्त किया। इन प्रयासों के बावजूद यह विद्यालय मुश्किल से पांच या छह महीने चलने के बाद बंद हो गया। तब उनके घनिष्ट मित्र गोवेंदे ने उनकी सहायता की। उन्होंने जुनागंज पेठ में फुले की पाठशाला के लिए एक जगह का प्रबंध करके पुनः विद्यालय को खुलवाया। फुले के एक परिचित व्यायाम प्रशिक्षक लहुजी और रनबा महार ने बड़े परिश्रम से इस विद्यालय में छात्र/छात्राओं को प्रवेश दिलवाया। गोवेंदे ने उनके लिए स्लेट, पेन्सिल और आर्थिक सहयोग अहमदनगर से जुटाया। इसी समय एक ब्राह्मण विष्णु पंत शत्ते ने अपनी सेवाएं विद्यालय को दीं। किन्तु ब्राह्मणों ने उन्हें इतना परेशान किया कि शत्ते विवश होकर विद्यालय छोड़कर चले गए। इन सब के बावजूद विद्यालय में बच्चों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी और उनके शिक्षा कार्य के लिए जगह कम पड़ने लगी। तब एक मुसलमान से विद्यालय के लिए गंजपेठ में ही किराए पर मकान लिया गया। बच्चों के पानी पिने तथा कपड़ों की व्यवस्था भी विद्यालय की ओर से की गई। इस कार्य में मेजर कैंडी तथा फुले के अन्य मित्रों ने भी सहायता प्रदान की।

ज्योतिबा फुले ने दलितों के लिए इसी प्रकार का दूसरा बालिका विद्यालय 3 जुलाई,1851 ई. को अन्नासहेब वासुदेव चिपलूनकर के बुधवार पेठ स्थित मकान में मात्र 8 लड़कियों को लेकर खोला। बाद में लड़कियों की

संख्या बढ़कर 50 हो गयी। इस विद्यालय की प्रधानाध्यापिका सावित्रीबाई को बनाया गया। प्रबंध समिति ने 17 दिसंबर, 1851 ई. को पूना के रास्ता पेठ में एक और विद्यालय की स्थापना की तथा इसी प्रकार 15 मार्च, 1852 ई. को पूना के वेठल पेठ में लड़कियों का चौथा विद्यालय आरम्भ हुआ। उच्च जातियों द्वारा ज्योतिबा के कार्यों का विरोध करने के बावजूद उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। सरकारी-देशी भाषा विद्यालयों के अधीक्षक पांडूरंग तरखडकर और पूना कालेज के अधीक्षक मेजर कैंडी ने उनके कार्यों एवं उनके द्वारा संस्थापित विद्यालयों की खुलकर प्रशंसा की। 1848 ई. से 1852 ई. के बीच ज्योतिबा फुले ने 18 कन्या पाठशालायें पूना, सातारा और अन्य जगहों पर खोली।

ज्योतिबा फुले ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति अपने लेखों, भाषणों और रचनाओं के माध्यम से की। उन्होंने मराठी साहित्य के माध्यम से बहुजनों में चेतना और जागरूकता लाने का प्रयास किया। ज्योतिबा फुले की पहली रचना 'तृतीय रत्न' (नाटक) थी, यह नाटक 1855 ई. में लिखा गया था। इसमें स्वार्थी पुरोहित वर्ग धर्म के नाम पर अज्ञानी शूद्रों को किस तरह लूटते हैं और ईसाई धर्मोपदेशक उन्हें सही ज्ञान देकर किस तरह सत्यमार्ग पर लाते हैं, इसका वर्णन फुले ने किया है। उनकी यह रचना दलित समाज के लोगों में पुरोहितों के असली चेहरे से परिचित होने में सहायक हुई। 1869 ई. में 'पवाडा' नामक रचना में छत्रपति शिवाजी महाराज का कविता के माध्यम से चरित्र-चित्रण किया है। 'ब्राह्मणों की चालाकी'(1869 ई.) नामक कृति में फुले

ने ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों के साथ अलग व दूसरों के साथ अलग षडयंत्र करने तथा शूद्रों पर किए जाने वाले अत्याचार के स्वरूप का वर्णन किया है और इसके माध्यम से दलितों को पुरोहितों के प्रति सजग रहने को कहा गया है। 'गुलामगिरी'(1873 ई.) फुले की प्रथम गद्य रचना थी। इसमें उन्होंने भारतीय ब्राह्मणों के सीमाहीन अधिकारों का इतिहास बताया है और अंग्रेजी शासन में होने वाले अत्याचारों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। वास्तव में मनुष्य को गुलाम बनाने वाली व्यवस्था के प्रति जो क्रोध और द्वेष उनके मन में था, उसे बड़े आवेश के साथ 'गुलामगिरी' की भाषा में उतारा है। ज्योतिबा का ग्रंथ 'किसान का कोड़ा'(1883 ई.) उनके मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। यह कृति किसान जीवन की दुर्दशा की गाथा है। 'अछूतों की कैफियत'(1884 ई.) नामक कृति में पात्रों के माध्यम से उन्होंने ब्रिटेन की महारानी से प्रार्थना की कि वह दलितों के उनके अधिकार दिलाएं, उनमें व्याप्त गरीबी और अशिक्षा को दूर करें और सदियों की दासता से पीछा छुड़वाए। उन्होंने 'सत्सार क्रमांक 1,2,3'(1885 ई.) में ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज की उस समय की भूमिका, भिन्न-भिन्न जाति के स्त्री-पुरुष संबंधों से उत्पन्न संतति की सामाजिक स्थिति और ब्राह्मणों की धर्म कल्पना की चर्चा की है। 'इशारा'(1885 ई.) में जाति व्यवस्था के कारण दलितों व किसानों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया गया है। सत्यशोधक समाज के लिए उपयुक्त मंगलगाथा, पूजा की विधि के बारे में भी ज्योतिबा ने लिखा था। उसी के अनुरूप 'सत्यशोधक समाज' का कार्य चलता था। 1890 ई. के प्रारंभ में ज्योतिबा फुले को लकवा मार गया

था। इस अवस्था में बाएं हाथ से उन्होंने 'सार्वजनिक सत्यधर्म' नामक पुस्तक लिखी, जो उनके मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। जिसमें ब्राह्मणों के कल्पित शास्त्रों, स्वर्ग-नर्क आदि का वर्णन किया है तथा सत्य को ही मनुष्य का सच्चा धर्म माना है। इस प्रकार ज्योतिबा फुले ने अपने लेखन के माध्यम से दलित समाज में बौद्धिक चेतना को जगाने का कार्य किया। इसके साथ-साथ उन्होंने समाज के अन्य वर्गों एवं सरकार का ध्यान भी दलितों की दयनीय दशा की ओर आकृष्ट किया। इसी के चलते उस समय समाज सुधार वातावरण बन गया था।

सावित्रीबाई फुले

सावित्रीबाई फुले का जन्म 3 जनवरी, 1831ई. को हुआ था। 9 वर्ष की आयु में उनका विवाह ज्योतिबा फुले से हुआ था। ज्योतिबा फुले ने ही सावित्रीबाई को पढ़ाया-लिखाया। मिसेज मिचेल के नार्मल स्कूल में अध्यापन संबंधी प्रशिक्षण लेने बाद 1848 ई. में वह अहमदनगर में प्रशिक्षित शिक्षिका बन गई। रूढ़िवादी विचारधारा के लोग किसी भी दलित स्त्री द्वारा निर्भयतापूर्वक शिक्षण कार्य करने को सह नहीं सकते थे। जब सावित्रीबाई घर से स्कूल निकलती तब उनको लोग रास्ते में खड़े होकर गंदी-गंदी गालियाँ देते, उन पर थूकते, कभी-कभी पत्थर मारते, यहाँ तक कि उनके ऊपर गोबर तक फेंकते थे। फिर भी सावित्रीबाई नियमित रूप से विद्यालय में लड़कियों को पढ़ाने जाती थीं।

ज्योतिबा फुले के शिक्षा कार्य की सभी महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ उनके ऊपर थीं। जिस पाठशाला में जब किसी शिक्षक की आवश्यकता रहती तब उन्होंने वहाँ जाकर अध्यापन कार्य किया। सभी पाठशालाओं के व्यवस्थापन तथा संचालन का काम भी उन्होंने किया। ज्योतिबा के साथ सावित्रीबाई का सहयोग केवल शिक्षा के क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रहा था। 1863 ई. में महात्मा ज्योतिबा फुले ने 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना की थी। उस गृह में लगभग 100 विधवाएं थी। उनमें से कुछ विधवाओं ने अवैध बच्चों को भी जन्म दिया था। इस आश्रम का सम्पूर्ण व्यवस्थापन सावित्रीबाई फुले ही करती थी। उस गृह के अनाथ बच्चों की माँ बनी थी सावित्रीबाई। इस 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' में काशीबाई नामक ब्राह्मण विधवा ने 1873 ई. में एक अवैध बच्चे को जन्म दिया था, फुले दम्पति ने उस बच्चे को गोद लिया। उसका नाम यशवंत रखा गया। सावित्रीबाई ने उस बच्चे का भरण-पोषण कर बड़ा किया।[59] आगे चलकर उसका विवाह भी 'सत्यशोधक समाज' की विवाह विधि के अनुसार किया।

ज्योतिबा फुले की मृत्यु के बाद(1890ई.) सावित्रीबाई ने 'सत्यशोधक समाज' की अनेक सभा,सम्मेलनों में भाग लेकर कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया। 1893 ई. में जब महाराष्ट्र में प्लेग की बीमारी फैली तब गरीबों और दलितों के जीवन को बचाते-बचाते वे खुद भी प्लेग की चपेट में आयीं और उसी में उनकी मृत्यु हुई।

सावित्रीबाई का 'काव्य फुले' नाम से पहला काव्य संग्रह 1854 ई. में छपा था। दूसरा काव्य संग्रह 1892 ई. में 'बावन कशी सुबोध रत्नाकर' छपा। इसमें पेशवायुगीन नारी की दीन-हीन दशा का यथार्थ रूप से अंकन किया गया है।

2.4.2 पेरियार ई.वी.रामास्वामी नायकर

पेरियार ई.वी.रामास्वामी का जन्म 17 सितंबर, 1879 ई. को मद्रास प्रांत(तमिलनाडु) के इरोडू नगर में एक समृद्ध व्यापारी परिवार में हुआ था।[60] इनके पिता वेंकटशनया नायकर व माता चिन्नामथाई अमाल थी। इन दोनों की मृत्यु जब पेरियार छोटे थे तभी हो गयी थी। वे कन्नडिका बलिया जाति(गड़ेरिया) के थे, जो बाद में नायकर कहलाए।[61] 8 वर्ष की उम्र में उन्हें विद्यालय में प्रवेश दिया गया लेकिन 10 वर्ष की अवस्था में ही उनकी पढाई सदा के लिए समाप्त हो गयी। वे अपने पैतृक व्यवसाय में लग गए। इनका बचपन नानी के देखरेख में बीता। १९ वर्ष की उम्र में उनकी शादी 13 वर्षीय नागमाई से हुई। दाम्पत्य के प्रथम चरण में मान्यताओं एवं समाज में प्रचलित अंधविश्वासों को लेकर दोनों में घोर विसंगति थी। विवाह के दो वर्ष बाद एक पुत्री का जन्म हुआ। किन्तु 5 महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी और कभी कोई संतान पैदा नहीं हुई। पेरियार का पूरा परिवार आडम्बर से ग्रसित था किन्तु रामास्वामी सदा इसका विरोध करते थे जिसके कारण इनके परिवार में विवाद होता रहता था। (सन 1949 ई. 72 वर्ष की अवस्था में उन्होंने 30

वर्षीय निजी सचिव मनियाबाई (मणियम्भै) से दूसरी शादी की किन्तु उम्र की असमानता के कारण वहां भी विवाद उत्पन्न हो गया।) घर के बहार भी अंधविश्वास, धर्मांधता, आधारहीत मान्यताएं, छुवाछूत को देखकर वे इतने त्रस्त हो गए कि वे परिवार को बिना बताए ही घर से निकल गए तथा साधुओं, योगियों और भिकारियों के साथ भ्रमण करने लगे। भ्रमण के बाद रामास्वामी पुनः परिवार में आए किन्तु इस समय स्थिति कुछ भिन्न थी। उनका मानना था कि सामाजिक अंध मान्यताओं को निराकृत करने के लिए बाबा बनकर दूर-दूर घूमना या जंगल में तपस्या करना आध्यात्मिक मिथ्या आकर्षण में फंसने से कोई लाभ नहीं। इसका उपचार सीधे संघर्ष द्वारा संभव है। 1920 ई. तक रामास्वामी 26 सार्वजनिक महत्व के पदों पर प्रतिष्ठित हुए। 12 वर्ष आननेरी मजिस्ट्रेट रहे तथा वह नगरपालिका के सदस्य भी रहे और 1919 ई. इरोडू नगरपालिका के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। पेरियार ने सामाजिक क्रांति का लक्ष्य निर्धारित किया कि भातर की शोषित, दलित जनता को सामाजिक समता के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाय तथा उसे जातिगत अवमानना एवं अनाचार से मुक्त किया जाए। कांग्रेस के सभी नेताओं ने पेरियार को तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष बनाया। जो बाद में वे प्रदेश कांग्रेस के मंत्री भी हुए।[62]

पेरियार सामाजिक उत्पीडन के स्वयं शिकार थे। इसलिए वे सामाजिक व्यवस्था को (पुर्णतः)बदलने के लिए कांग्रेस में शामिल हुए। केरल प्रान्त ट्रावनकोर रियासत के वायकोम नगर में 1924 ई. में वहां के महाराजा के

जन्मदिन के अवसर पर वायकोम मंदिर तक जाने वाली गली से ईझवा जाति(निम्न जाति) के लोगों को सवर्णों ने रोक दिया, जिस पर पेरियार के नेतृत्व में ब्राह्मनेत्तर जनता ने सवर्णों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया और मंदिर प्रवेश मुख्य मुद्दा बन गया। पेरियार गिरफ्तार कर लिए गए। पेरियार ने 1920 ई. में तिरुलेनवेली की तमिलनाडु प्रदेश कांग्रेस की सभा में एक प्रस्ताव रखना चाहा कि शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में ब्रिटिश शासन कम्यूनल रिप्रेजेंटेशन(जातिगत प्रतिनिधित्व) का सिद्धांत स्वीकार करें, किन्तु श्रीनिवास आयंगर ने जातिगत संघर्ष का भय दिखाकर प्रस्ताव को रोक दिया। 1921 ई. में तंजौर के वार्षिक सम्मेलन में पुनः यह प्रस्ताव पेरियार ने प्रस्तुत किया, किन्तु चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने इस प्रस्ताव को रोक दिया। पुनः 1922 ई. में तिरुपुर व 1923 ई. में सेलम के अधिवेशन में यही प्रस्ताव पेरियार ने पेश किया किन्तु पारित न हो पाया।[63] यह प्रस्ताव छठी बार 1925 ई. तमिलनाडु के प्रांतीय अधिवेशन में रखा गया किन्तु इस बार भी असफलता ही मिली। तमिलनाडु प्रांतीय कांग्रेस में गैर-ब्राह्मणों के लिए सरकारी नौकरियाँ, शिक्षण संस्थाओं और विधानसभा में स्थान सुरक्षित कराने के लिए प्रस्ताव पास कराने में अपनी असफलता के कारण पेरियार ने 1925ई. में सदा के लिए कांग्रेस छोड़ दी तथा उसी वर्ष आत्मसम्मान आन्दोलन शुरू किया। आत्मसम्मान आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ब्राह्मण धर्म के प्रति लोगों में विरोध उत्पन्न करना, तमिल भाषा,साहित्य एवं संस्कृति के प्रति स्वाभिमान जागृत करना और धर्म तथा ईश्वर के नाम पर पुरोहितों

द्वारा होने वाले शोषण को रोकना था। आगे चलकर यह आन्दोलन ब्राह्मण विरोधी, धर्म विरोधी और ईश्वर विरोधी भी हो गया। पेरियार दलितों को दलित बनाए रखने में तीन संस्थाओं –धर्म, जाति और उत्तर से आए आर्य प्रभाव- को मानते थे। पेरियार धर्म को बुराई और अन्याय की जड़ मानते थे। 1944 ई. में पेरियार ने और उनके सहयोगियों ने 'द्रविड़ कड़गम' की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य द्रविड़ राज्य की स्थापना करना था। पेरियार बुद्धिवाद पर बहुत जोर देते थे। इसी कारण वे बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। पेरियार का कहना था कि "भगवान की पूजा धर्म का परिपालन और शासकों के तुष्टिकरण को शिक्षण संस्थाओं के प्रांगण में कभी आने नहीं देना चाहिए। शिक्षा बुद्धिवादी और सबके लिए होनी चाहिए। शिक्षा के माध्यम से अंधविश्वास और अज्ञानता समाप्त करने साथ ही न्याय तथा नैतिकता को सुधारने में सफल हुआ जा सकता है। धर्म दलितों का शोषण करता है। धर्म मनुष्य को सुस्त और कायर बनाता है जबकि बुद्धिवाद और अनीश्वरवाद मानव को आजाद करते हैं।"[64] पेरियार के संघर्ष का ही परिणाम था कि तमिलनाडु सरकार के मंत्रियों ने ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं ली थी जबकि उनके सामने गीता, रामायण, बाइबिल और कुरान रखा हुआ था।[65] पेरियार ने विद्यापुरम प्रशिक्षण संस्थान में घोषणा की थी कि जिसने ईश्वर का आविष्कार किया, वह मूर्ख है। जिसने ईश्वर का प्रचार किया, वह दुष्ट है। जो ईश्वर की पूजा करता है, वह असभ्य है। यही नहीं इस संस्थान में नए शरणार्थियों को फॉर्म में एक प्रतिज्ञा लिखने का निर्देश था और यह प्रतिज्ञा थी

कि “मैं ईश्वर का विरोध करता हूँ। मैं ब्राह्मणों को स्वीकार नहीं करता। मैं जाति व धर्म पर विश्वास नहीं करता।”[66] उन्होंने ‘ट्रू रीडिंग ऑफ़ रामायणा’(सच्ची रामायण) ग्रंथ की रचना की थी जिसमें उन्होंने रामायण के समस्त पात्रों का वास्तविक चित्रण किया है। जिसका हिंदी अनुवाद ललई यादव ने ‘सच्ची रामायण’ नाम से किया है। यह निसंदेह कहा जा सकता है कि पेरियार ने दक्षिण भारत के दलितों में जो चेतना लाने का कार्य किया उसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत के दलितों पर पड़ा है। ऐसे महान विचारक का निधन 24 दिसंबर, 1973 ई. को हुआ।[67]

2.4.3 स्वामी अछूतानन्द ‘हरिहर’

स्वामी अछूतानन्द का जन्म 1879 ई. में ‘सौरिख’ गाँव में हुआ था; जो उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में स्थित है। उनके बचपन का नाम हीरालाल था। उनके गाँव के हालात अछूतों के लिए बहुत ख़राब थे। गाँव के ज्यदातर अछूत हरवाहा थे। पर उन्हें जमींदार और ब्राह्मणों के यहाँ बेगार भी करनी पड़ती थी। एक दिन उनका ब्राह्मणों के साथ भारी झगडा हो गया और भावी मार-पीट की भावी आशंका से डरकर अछूतानन्द के परिवार ने सौरिख को छोड़ने का फैसला किया। और उसी दिन उन्होंने वह गाँव छोड़ा। हीरालाल ने सन्यासियों से ही हिंदी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, मराठी, बंगला तथा गुरुमुखी सीखी। उनका आध्यात्मिकता की ओर झुकाव देखकर लोग उन्हें पहले ‘हरिहरानंद’ व बाद में अछूतानन्द के नाम से संबोधित करने लगे थे।

अछूतानन्द सबसे पहले आर्य समाज में सम्मिलित हुए क्योंकि वह इसे अलग धर्म समझते थे किन्तु जल्द ही आभास हुआ कि यह तो हिन्दू धर्म का ही प्रचार तंत्र है। वहां भी पाखंड व अंधविश्वास था। इसलिए वह उससे अलग हो गए। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म स्वर्ग-नरक, पाप-पुन्य का सिद्धांत, भेद-भाव और उत्पीड़न का ही दूसरा नाम है। उनका कहना था कि "कोई भी व्यक्ति जो किताबें पढ़ता हो और ध्यान को अपने व्यवहार में लाता हो तथा साथ ही उन सबकी जानकारी के बाद निश्चित ही उसमें समझ विकसित होती है तथा साथ ही वह भगवान, अन्धविश्वास से दूर हो जाता है।"[68] अछूतानन्द भारत में बहुत जगह पर घूमें थे इसलिए स्वाभाविक है कि वे भिन्न-भिन्न विचारधारा वाले लोगों साथ रहें लेकिन सबसे अधिक प्रभावित वे गौतम बुद्ध और कार्ल मार्क्स की विचारधारा से रहें।

19 अक्तूबर, 1926 ई. को मैनपुरी की 'यूपी आदि हिन्दू कान्फ्रेन्स' में स्वामी अछूतानन्द ने कहा कि-"हम लोग हिंद के आदि निवासी हैं, हमारे सौ-सौ पत्थर के किलों का जिक्र वेदों में है। आर्यों द्विजों ने हमारे पूर्वजों को युद्ध में नहीं जीता, छल व पाखंड से देश पर अपना अधिकार जमा लिया, और वर्ण विधान बनाकर आप तो प्रभु बन गये और हम मूल निवासियों में से उन लोगों को जिन्होंने विवश हो आर्यधर्म ग्रहण कर लिया, 'शूद्र' कहकर समाज में रख लिया, जिन्होंने आर्यधर्म स्वीकार नहीं किया और युद्ध में पकडे गये, उन्हें नीच वृत्तिवाला 'अछूत' बनाया और जो भागकर जंगल में चले गये वे कोल,

भील, संताल, कंजड, सांसी, गोंड, द्रविड़, मुंडा, हो, उरांव आदि अब तक मौजूद हैं, जिन्हें 'ट्राइबलरेस' या 'कबिला' कहा जाता है।"[69] इस तरह से उन्होंने 'आदि हिन्दू आन्दोलन' चलाया जो 1922 ई. में दिल्ली में शरू कर पूरे भारत वर्ष में इसका प्रचार-प्रसार किया।

अछूतानन्द ने यह अपसोस जाहिर किया कि उन्होंने आर्य समाज में रहकर अपना मूल्यवान समय खो दिया। उन्होंने अछूतों को आव्हान किया कि वे संगठित हो और आत्मनिर्भर बने। मनुवादियों के जाति और धर्म के आधार पर बांटने के षड्यंत्र से बचने के लिए उन्होंने लोगों को सावधान किया। 1927 ई. में कानपूर की सभा में उन्होंने कहा कि "स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।"[70] उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेज हमेशा पक्षपाती थे और मनुवादियों की अपराधिक गतिविधियों का समर्थन करते हैं, इसलिए हमें दोनों से आज़ादी चाहिए।

नवंबर 1928 ई. में अछूतानन्द डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर से भी मिले थे। उनसे मिलकर अपने 'आदि हिन्दू आन्दोलन' के बारे में चर्चा भी की। 1936 ई. में 54 वर्ष की अवस्था में उत्तर प्रदेश में बेना सत्पर, कानपूर में वे महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

2.4.4 नारायण गुरू:-

महाराष्ट्र में दलितों में चेतना उत्पन्न करने का कार्य जहाँ सर्वप्रथम ज्योतिबा फुले ने किया था वहीं केरल में यह कार्य नारायण गुरू ने प्रारंभ किया था। नारायण गुरू का जन्म 20अगस्त, 1854 ई. को त्रिवेंद्रम से 12 किमी उत्तर में स्थित चपदंती नामक कस्बे में हुआ था। इनके पिता का नाम मदन आसन और माता का नाम कुट्टी था।[71] नारायण गुरु एक धर्म, एक जाति और एक ईश्वर में विश्वास करते थे। इसके लिए उन्होंने देश का प्रथम 'सर्व-धर्म सम्मलेन' अलवये में सन 1924ई. में आयोजित किया जिसमें पारसी, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के आचार्यों ने भाग लिया। उन्होंने मंदिरों को प्रोत्साहन नहीं दिया, वे मंदिर निर्माण को धन अपव्यय मानते थे। उन्होंने माना कि मंदिर जातिगत अंतर को बढाता है। और यदि मंदिर बनाए भी जाएँ तो उसमें रखी जाने वाली मूर्तियों का उन्होंने विरोध किया। उनकी प्रेरणा से केरल में स्थित कुरमुकु मंदिर में मूर्तियों के स्थान पर अध्यात्मिक प्रगति के प्रतीक जलते हुए दीप को रखा गया। तो मुल्कुमपधा के मंदिर में सत्य, धर्म, दया और स्नेह लिखित पत्थर की एक पट्टी और कालवन शोद मंदिर में ॐ अक्षर अंकित एक शीशे को स्थापित किया।[72] इन मंदिरों में सभी पूजारी अब्राह्मण थे। नारायण गरू ने सर्वप्रथम ऐसे मंदिर की स्थापना की,जिसमें देवताओं की जगह एक आईने का टुकड़ा था। उन्होंने जाति-पांति का खुलकर विरोध किया और दलितों को पूजा-पाठ से दूर रहने को कहा। उन्होंने एक आश्रम की स्थापना भी की, जिसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता था। उच-नीचता का विरोध वे आजीवन करते रहें। मद्यपान का भी

उन्होंने विरोध किया। इझवा जाति के लोगों ने इनका भरपूर सहयोग किया। नारायण गुरू स्वयं ताड़ी निकालने वाली जाति से आते थे, फिर भी उन्होंने इसका विरोध किया। चूँकि उन्होंने देखा था कि मद्यपान से बहुत से लोगों का घर बर्बाद हो चुके थे। दलितों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने उनसे अपने खर्च में कमी लाने को कहा तथा उसके लिए प्रचलित पुरातन प्रथाएँ तालिकेट्ट(नकली विवाह), तिरंडुकूलि(यौवनारंभ उत्सव), पुलिकुटी(प्रथम गर्भ के एक महीने पर आयोजित उत्सव) और पुताइलि(जीव बलि) को जिनका कोई धार्मिक आधार नहीं था, जनमत के सहयोग से समाप्त कर दिया। उन्होंने प्रगति के लिए लोगों को वैज्ञानिक ढंग से धंदे और खेती करने को कहा।[73]

नारायण गुरु भी दलितों में शिक्षा का प्रसार करना अति आवश्यक मानते थे। इसलिए उन्होंने (उनकी संस्था)'नारायण धर्म परिपालन संघ' (एन.डी.पी.ए.) को यह आदेश दे रखा था कि जिस स्थान पर विद्यालय व पुस्तकालय की मांग की जाए वहां वे अवश्य खोले जाएँ।[74] उन्होंने अपने मंदिरों में पुस्तकालय भी खोले थे। यह कार्य दलितों के लिए काफी लाभदायक सिद्ध हुआ। इसका प्रभाव स्वभाविक रूप से भारत के अन्य राज्यों पर भी पड़ा। दलित हित के लिए प्रयासरत नारायण गुरू की 28 सितंबर, 1928 ई. को मृत्यु हुई।

2.4.5 डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रेल, 1891 ई. इंदौर जिले के महू छावनी में हुआ था। इनके पिता का नाम रामजी सकपाल व माता का नाम भीमाबाई था। वे अपने माता-पिता की चौदवीं संतान थे। उनके पिता फौज से सेवानिवृत्त होकर सपरिवार सातारा चले गए थे। सातारा में लंबी बीमारी के बाद 1896 ई. में उनकी पत्नी भीमाबाई की मृत्यु हो गयी। बाबासाहेब की माता की मृत्यु के बाद उनका पालन-पोषण उनकी बुआ मीराबाई ने किया।[75]

बाबासाहेब की प्रारंभिक शिक्षा 7 नवंबर 1900 ई. गवर्नमेंट वर्नाक्युलर हाईस्कूल सातारा से प्रारंभ हुई। उस स्कूल में अम्बेडकर नामक एक ब्राह्मण प्रधानाध्यापक थे जो बाबासाहेब से बहुत अधिक प्रभावित थे। भीमराव का उपनाम अम्बावडेकर था। ब्राह्मण अध्यापक ने इस उपनाम की जगह अम्बेडकर नाम धारण करने को बाबासाहेब को सुझाव दिया और तुरंत स्कूल के कागजात में दर्ज कर लिया। 1906 ई. इनका विवाह भीकू वलंडकर की पुत्री रमाबाई के साथ हुआ तथा 1907 ई. में भीमराव अम्बेडकर ने मैट्रिक की परीक्षा पास की, जिससे खुश होकर कृष्णा जी अनंत केलुसकर(जो कि एक शिक्षक व लेखक थे) ने उन्हें 'तथागत गौतम बुद्ध' पर एक पुस्तक दी और उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया।[76]

भीमराव अम्बेडकर ने 1910 ई. इंटरमीडिएट तथा 1912 ई. में फारसी विषय के साथ बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी वर्ष उनका एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम यशवंत रखा गया। आर्थिक विपन्नता के कारण वह नौकरी करने हेतु बडौदा रियासत में गए जहाँ उन्हें सेना में लेफ्टिनेंट पद पर नियुक्त किया गया किन्तु उसी समय उनके पिता का देहांत हो गया जिससे वे और भी समस्याओं से घिर गए। जून 1913 ई. में बडौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड द्वारा उच्च शिक्षा हेतु चार छात्रों को विदेश भेजने की घोषणा की गई जिसमें भीमराव अम्बेडकर को भी चुना गया। कुछ शर्तों के साथ भीमराव अम्बेडकर 21 जुलाई, 1913 ई. को उच्च शिक्षा हेतु न्यूयार्क पहुंचे। भीमराव अम्बेडकर ने 1915 ई. में कोलंबिया विश्वविद्यालय,अमरीका से एम.ए.(अर्थशास्त्र) में 'ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त व्यवस्था' पर शोध प्रबंध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त की। एम.ए. का शोध निबंध 'एसियंट इंडियन कामर्स(प्राचीन भारत में व्यापार) भी था। वहां पर जान डप्पई, जेम्स शाटवेल, एडविन, सेलिग्मन, जेम्स हार्वे, राबिन्सन, फ्रेकलीन, अलेक्जेंडर, गोल्डन वेसेंट जैसे विद्वान प्राध्यापकों से भीमराव अम्बेडकर का परिचय हुआ। 1916 ई. में ही 'दि नेशनल डिविडेंट ऑफ इंडिया:ए हिस्टोरीकल एनालेटिक स्टडी'(भारत में राष्ट्रीय लाभ:ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन) शोध प्रबंध प्रस्तुत कर पी-एचडी की उपाधि प्राप्त की।[77] इंग्लैंड की सुप्रसिद्ध पी.एस.किंग एंड कंपनी नामक प्रकाशन संस्थान ने इस शोध प्रबंध को 'दि इवालुशन ऑफ प्राविन्सियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' शीर्षक से

1927 ई. में प्रकाशित किया। इस प्रबंध में उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों और साम्राज्यशाही की खुलकर आलोचना की थी। सयाजीराव गायकवाड द्वारा प्रदत्त छात्रवृत्ति के शर्तों के अनुसार डॉ. भीमराव अम्बेडकर को लौटकर 1918 ई. में बडौदा नरेश के दरबार में मिलिट्री सचिव के पद पर काम करना पड़ा। इस पद पर कार्य करते समय वहां के कर्मचारियों द्वारा भी छुआछूत के माध्यम से प्रताड़ना दी गई और सवर्णों द्वारा इतना परेशान किया गया कि मजबूरन उन्हें यह नौकरी छोडनी पड़ी। किन्तु उसी समय नवंबर 1918ई. में ही 'सेडनहम कॉलेज ऑफ़ कॉमर्स एंड इकोनामिक्स' मुंबई में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

भारतीय समाज में दलितों पर हो रहे अत्याचारों और उनकी समस्याओं को कोई भी पत्र-पत्रिका छापने को तैयार न थे। ऐसी स्थिति में डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की समस्याओं को उजागर करने के लिए अपने जीवन काल में पांच पत्र,मूकनायक, बहिष्कृत भारत, समता, जनता और प्रबुद्ध भारत- निकाले। मूकनायक डॉ. अम्बेडकर का प्रथम मराठी पाक्षिक था जिसकी शुरुआत छत्रपति शाहू महाराज के सहयोग से 1920ई. में हुई। पत्र का नाम 'मूकनायक' अर्थात मूक लोगों का नायक मुंबई से प्रकाशित हुआ। इसके 13 अंक निकले। सरकारी कॉलेज में प्राध्यापक होने के कारण डॉ. अम्बेडकर 'मूकनायक' के विधिवत संपादक नहीं थे, लेकिन सामग्री के सृजक वही थे। संपादन सूत्र पांडुरंग नंदराम भटकर को सौंपा गया था। इसके द्वितीय

संपादक ध्रवनाथ घोलप थे। शुरू के 13 अंको का संपादकीय और लेखन अम्बेडकर ने किया।[78]

डॉ.अम्बेडकर पुनः अध्ययन हेतु लंदन गए, जहाँ लंदन विश्वविद्यालय से जून 1921 ई. में 'दि प्रोविंसियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ़ इपीरिअल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' नामक शोध प्रबंध पर एम.एस-सी की उपाधि दी गई। 1922 ई. में लंदन विश्वविद्यालय से ही बार.एट .लॉ व बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त की। 1922 ई. में ही जर्मनी के ब्रान विश्वविद्यालय भी गए और वहां से तीन महीने संस्कृत का अध्ययन कर लंदन वापस आ गए।

1923 ई. में लंदन विश्वविद्यालय से डी.इस.सी. उपाधि शोध प्रबंध 'दि प्रोब्लम्स ऑफ़ दि रुपीज:इट्स ओरिजिन एंड इट्स सलुशन'(भारत में रुपए की समस्या) पर दी गयी। इस शोध प्रबंध में भारतीय रुपए और ब्रिटिश पौंड के संबंध का विश्लेषण किया व भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ने वाली अवमूल्यन की प्रखर आलोचना की गयी है।

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर का सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में योगदान:

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर को प्रारंभ से ही दलित समाज का होने कारण सामाजिक अपमान का सामना करना पड़ा था। डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे सर ने अपनी किताब 'डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर' में सामाजिक

अपमान के सन्दर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख किया है जिसको हम यहाँ देख सकते हैं- “नौकरी के कारण उन दिनों रामजी सूबेदार कोरेगांव में थे। लडके सातारा में। छुट्टियों में भाई और एक भांजा ऐसे तीन, उन्हें मिलने के लिए निकले। इस समय भीमा(डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर) नौ वर्ष का था। सातारा से मसूर स्टेशन वे रेल से पहुंचे। उन्हें उम्मीद थी कि स्टेशन पर पिताजी उनकी प्रतीक्षा करते होंगे। परन्तु उनका पत्र रामजी को मिला ही नहीं था। मसूर एक छोटा-सा स्टेशन था। गाड़ी चली गई। अब तीनों परेशान हो गए। गरमी के दिन थे। स्टेशन के बाहर आए। बैलगाड़ीवान से उन्होंने पूछा- “दादा,क्या हमें कोरेगांव ले चलोगे?”

“हाँ, क्यों नहीं!”

“कितने पैसे लोगे?”

“तुम जितना योग्य समझते हो दो।”

“फिर भी कहो न।”

“अरे बैठो तो। बाद में देख लेंगे।”

तीनों बच्चे बहुत प्रसन्न हुए। बैलगाड़ीवाले को लगा कि खाते-पीते घर के खानदानी लडके हैं। चूँकि अब दूसरी रेल भी आनेवाली नहीं थी। ग्राहक

मिलने की संभावना नहीं थी। इधर-उधर की बातचीत के बाद गाड़ीवान ने पूछा-

“क्यों रे बच्चों, कोरेगांव में किनके यहाँ जाना है?”

“रामजी सूबेदार के यहाँ।”

“रामजी सूबेदार, यह कौन है?”

“सेना में वे सूबेदार मेजर थे।”

“सेना में?”

“हाँ, हाँ, सेना में।”

“मतलब वह महार(दलित)तो नहीं?”

“हाँ, हम भी महार ही है।”

गाड़ीवान एक दम उछल के नीचे उतरा। गालियाँ देने लगा। कहने लगा, “मुझे तुम्हारी छूत हो गई। मेरी गाड़ी को भी छूत हो गई। बैल भी भ्रष्ट हो गए। अब मुझे नहाना होगा। गाड़ी धोनी होगी। बैलों को नहलाना होगा। चलो, पहले मेरी गाड़ी से उतर जाओ।”[79] आगे भीमराव के बड़े भाई आनंद ने दोगुना पैसा देने की भी बात की लेकिन वह गाड़ीवान नहीं माना। इस तरह से भीमराव को अपनी आयु के नौ वर्ष में ही यह अपमान सहना पड़ा था।

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के सामाजिक विचारों को जानने के लिए दो महत्वपूर्ण स्त्रोत ग्रंथ रूप में उपलब्ध हैं। एक, 13 मई, 1913 ई. को कोलम्बिया विश्वविद्यालय के मानववंश शास्त्र विभाग द्वारा आयोजित एक संगोष्ठी में प्रस्तुत उनका एक आलेख जो बाद में ग्रंथ रूप में प्रकाशित हुआ, इस आलेख का शीर्षक था-'भारतीय जाति:उत्पत्ति, विकास और कार्यपद्धति'। दूसरा स्त्रोत लाहोर 'जात-पांत तोड़क मंडल' द्वारा आयोजित एक परिषद् के अध्यक्ष रूप में दिया गया व्याख्यान (जिसको नहीं दिया गया, किसी कारण वश)। इसका विषय था- 'हिन्दुओं की जातिप्रथा:उसे नष्ट करने के उपाय'। इसके अलावा दो अन्य ग्रंथों का आधार भी जरूरी है। वे किताबें हैं-'शूद्र कौन थे?' और 'अस्पृश्य कौन थे? और वे अस्पृश्य कैसे बने'। इस प्रकार उपर्युक्त दो आलेखों और दो ग्रंथों के आधार पर उनके सामाजिक विचारों को जाना जा सकता है।

पहले आलेख(भारतीय जाति:उत्पत्ति, विकास और कार्यपद्धति) में उन्होंने भारतीय समाज-व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। भारतीय समाज आर्य, द्रविड़, मंगोलियन,शीथियन इन वंशों के मिश्रण से बना है। इसमें से प्रत्येक वंश आक्रामक बनकर आया और यहीं स्थिर हुआ। इन चारों वंशजों में एक एकजीवता नहीं आ सकी। परन्तु उनमें सांस्कृतिक एकता आ सकी। और इसी सांस्कृतिक एकता के कारण भारतीय जाति-व्यवस्था का विश्लेषण अत्यधिक कठिन है- ऐसी बाबासाहेब की स्थापना थी। जाति एक स्वयं मर्यादित संस्था है। उसमें भोजनादि सामाजिक व्यवहार पर बंधन डाले

जाते हैं। जाति अंतर्गत विवाह बंधन के कारण ही जाति-व्यवस्था सुरक्षित रह सकी है इसे उन्होंने स्पष्ट किया। जाति के अंतर्गत विवाह का यह बंधन भूतकाल में भी कठोर था और आज भी है। पुरुषों की तुलना में अगर स्त्रियों की संख्या अधिक हो तो जाति-अंतर्गत विवाह का नियम निभाया नहीं जा सकता था। इसलिए पुराणों, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों में स्त्रियों की संख्या को सीमित रखने के लिए चार मार्ग बताये हैं- एक, मृत पति के साथ स्त्री को चिता पर जला दिया जाय, दो,मृत्यु तक वैधव्य लादना, तीन, विधुर पर ब्रह्मचर्य लादना, चार, कम उम्र की लड़की का विवाह अधिक उम्र के पुरुष के साथ करना।[80] इन बन्धनों के कारण जाति-व्यवस्था अधिक मजबूत होती गयी। आगे के काल में इन सभी बंधनों का उदात्तीकरण किया गया। अपने इस सिद्धांत को अनेक प्रमाणों सहित स्पष्ट करते हुए डॉ. अम्बेडकर यह सिद्ध करते हैं कि “जाति-अंतर्गत विवाह ही जाति-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए कारणीभूत है।”[81]

इसी आलेख में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर एक अन्य सामाजिक सिद्धांत को गलत साबित करते हैं। वे लिखते हैं-“व्यक्ति–समूह से बनता है यह एक बहुत ही स्थूल और मामूली वक्तव्य है। समाज कभी भी व्यक्ति से नहीं बनता, वह वर्ग से बनता है। प्रत्येक समाज में वर्ग अस्तित्व में होते हैं। वर्ग-रचना के मूल में निहित कारण अलग-अलग होते हैं। कभी आर्थिक, कभी बौद्धिक, कभी राजनीतिक कारणों से वर्ग बनते हैं। व्यक्ति किसी-न-किसी वर्ग की इकाई

बनकर ही जीना चाहता है। यह एक वैश्विक सत्य है। हिन्दू समाज भी इसके लिए अपवाद नहीं है। इस नियमानुसार वर्ग जाति में रूपांतरित होते गए। वास्तव में 'जाति और वर्ग' यह आमने-सामने रहनेवाले पडोसी की तरह होते हैं। बहुत मामूली भेदों के कारण उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न लगता है। वस्तुतः जाति एक स्वयं मर्यादित वर्ग है।"[82] आगे डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर सवाल उठाते हैं कि वह कौन-सा पहला वर्ग था जो जाति में रूपांतरित हुआ? इसका सीधा सा उत्तर है कि अपने आप को सबसे श्रेष्ठ समझने वाले वर्ग से सबसे पहले जाति बनाई और अपने को सबसे ऊपर रखा। निसंदेह वे लोग ब्राह्मण ही थे। इसी ब्राह्मण वर्ग ने इस देश की गरीब जनता पर जातिप्रथा को लादा। यहाँ पर सैंकड़ों वर्षों से वर्ग जाति में परिवर्तित होने की प्रक्रिया चल रही थी। डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर यह स्पष्ट करते हैं कि मनु जाति-व्यवस्था का जनक नहीं था। मनु के सैंकड़ों वर्ष पूर्व जातिप्रथा अस्तित्व में थी। मनु इस व्यवस्था को एक दार्शनिक धरातल पर ले जाकर शास्त्र रूप देता है। जाति से संबंधित नियमों का मनु ने केवल संकलन किया है। वैसे जाति का प्रचार-प्रसार किसी व्यक्ति या वर्ग द्वारा संभव नहीं है। वास्तव में जाति की मानसिकता जाति-अंतर्गत विवाह के कारण अधिक मजबूत होती गई है। डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के अनुसार प्राचीन भारत में चार वर्ग थे 1)ब्राह्मण अथवा उपाध्याय वर्ग,2)क्षत्रिय अथवा सैनिक वर्ग, 3)वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग, 4)क्षुद्र अथवा किसान और श्रमिकों का वर्ग। इतिहास के किसी कालखंड में उपाध्याय वर्ग ने इतर जनता से खुद को अलग कर लिया। श्रम-विभाग के

तत्वानुसार शेष जनता का भी विभाजन हुआ इस कारण कुछ वर्ग बहुत बड़े और कुछ बहुत ही छोटे हो गए। वैश्य और शूद्र जातियों में आदिम वर्ग या जाति के अनेक सांस्कृतिक संकेत आज भी मिलते हैं। इन दो वर्गों का अनेक जातियों में बाद में विभाजन हुआ। क्षेत्रिओं का विभाजन शासक और सैनिक इन दो उपविभागों में ही हुआ। यह उपविभाग स्वयं मर्यादित वर्ग बन गए। इन्हीं को जातियां कहा जाने लगा।[83] 'मूकनायक' समाचार पत्र में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने हिन्दू समाज के बारे में लिखा था-"हिन्दू समाज एक मीनार है और हर एक जाति एक-एक मंजिल है। लेकिन ध्यान देने की बात है कि इस मीनार में सीढियाँ नहीं हैं। एक मंजिल से दूसरे मंजिल तक जाने का रास्ता नहीं है। जिस मंजिल पर आपका जन्म होता है, उसी मंजिल पर आपको मरना है।"[84] इस प्रकार अत्यंत क्लिष्ट और गुत्थियों में फंसे हुए भारतीय समाज रचना की उत्पत्ति का सिद्धांत डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने बहुत ही परिश्रम से प्रस्तुत किया है।

लाहौर में आर्यसमाज के तत्वाधान में 'जात-पांत तोड़क मंडल' कई वर्षों से कार्यरत था। इस समिति के गोपीचंद नारंग और हरभगवान ने डॉ.बाबासाहेब से यह निवेदन किया कि वे उनके अधिवेशन की अध्यक्षता करें। डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने इस निमंत्रण को स्वीकार कर, अपने स्वाभाव के अनुसार काफी परिश्रम के साथ एक आलेख तैयार किया। इस आलेख को उन्होंने सभा सचिव के पास भेजा। इस आलेख में आर्यसमाज के वर्ण-व्यवस्था विषयक विचारों पर प्रहार किया गया था। जाति और वर्ण-

व्यवस्था तोड़ने की आर्यसमाज की पद्धति से उनके गंभीर मतभेद थे। इस आलेख को पढ़ने के बाद लाहौर के आर्यसमाजियों ने यह निर्णय लिया कि इसमें कुछ संशोधन हो। लेकिन डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने इसको इंकार कर दिया। परिणामतः परिषद् ने 'जात-पांत तोड़क मंडल' अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के चुनाव को ही रद्द कर दिया। दरअसल 58 पृष्ठ के इस आलेख में बहुत ही विस्तार के साथ (दोषों के साथ) हिन्दू समाज-व्यवस्था का विश्लेषण किया है।

कांग्रेस के सामाजिक सुधार की भी डॉ.अम्बेडकर ने आलोचना की है। कांग्रेस द्वारा आरम्भ की गयी सामाजिक सुधार परिषद् की कठोर समीक्षा करते हुए वे कहते हैं कि 'विषम समाज रचना भावुकता अथवा आदर्शों से समाप्त होने वाली नहीं है। इसके लिए परिवर्तित मानसिकता और ठोस कार्यकर्मों की आवश्यकता है। हिन्दुओं का 'पारिवारिक सुधार आन्दोलन' और 'हिन्दू समाज पुनर्रचना के आन्दोलन'- ऐसा स्पष्ट वर्गीकरण वे करते हैं।[85] उनका मानना था कि(अंग्रेजों के आने से पहले तक) आजतक जितने आन्दोलन हुए है वे सिर्फ पारिवारिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए किये गए हैं। जाति और वर्णभेद नष्ट करने की आवश्यता उन्हें महसूस ही नहीं हुई। जाति और वर्ण व्यवस्था के कारण उपेक्षित समाज को वे समझ ही नहीं पाए। और अंग्रेजों के यहाँ आने पर ही समाज-रचना में परिवर्तन हो ऐसी दृष्टि उनमें पनपी। जाति व्यवस्था के मूल में श्रम विभाजन का सिद्धांत काम कर रहा है, ऐसी स्थापना आर्यसमाजियों की रही है। इस पर डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने कहा है-

“जाति-संस्था केवल श्रम विभाजन नहीं है, वह श्रमिकों का भी विभाजन है। केवल श्रमिकों का विभाजन करके ही वह रुकती नहीं, अपितु श्रमिकों के एक-एक समूह को वह नीचे से ऊपर की ओर, एक-दूसरे पर रखती जाती है और सबसे भयंकर बात यह है कि यह क्रमबद्धता जन्म से के आधार पर हमेशा के इए चिपका दी जाती है। विश्व के किसी भी देश में श्रम-विभाजन को श्रमिकों के सामाजिक स्तर के साथ चिपकाया नहीं गया है।”[86] वर्णव्यवस्था ने सभी वर्णों को अपने-अपने काम बाँट दिए थे जिसके कारण कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपना व्यवसाय नहीं चुन सकता था। डॉ.बाबासाहेब ने ऐसे नियमों की कड़े शब्दों में आलोचना की थी।

महाड के अछूतों को चवदार तालाब का पानी पीना सवर्णों ने वर्जित कर दिया था। डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर का विचार था कि अधिकार मांगने से नहीं, छीनने से मिलता है। इसके लिए उन्होंने सुरबा टिपनिस, संभाजी गायकवाड, शिवराम जाधव, आनंतराव चित्रे, रामचंद्र मोरे आदि सहयोगियों के साथ 20 मार्च,1927 ई. को चवदार तालाब मुक्त करने हेतु ‘जिला बहिष्कृत परिषद्’ का आयोजन किया। इसमें पांच हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अतः सबकी सहमति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गए-

“-बहिष्कृत समाज के लोगों द्वारा सार्वजानिक स्थानों पर जल वितरण केन्द्रों का उपयोग कर अपना अधिकार स्थापित करने के प्रयास पर वरिष्ठ

हिन्दू समाज द्वारा उन पर भहिष्कार डाला जाता है वे ऐसा न करें तथा बहिष्कृत समाज को सहयोग करें।

-वरिष्ठ हिन्दू समाज दलितों को अपने घरों में नौकरी प्रदान करें।

-जाति-भेद नष्ट करने के उपायों के अंतर्गत अंतरजातीय विवाह प्रथा का आरंभ करें।

-दलितों के गरीब छात्रों को अपने यहाँ सप्ताह में एक बार बुलाकर भोजन देकर सहायता करें।

-सवर्ण समाज मृत पशुओं को उठाकर ले जाने की स्वयं व्यवस्था करें, व दलितों पर निर्भर न रहें।"[87]

इसके साथ ही यह भी कहा गया कि सार्वजानिक कुओं तथा तालाबों पर सूचना पट लगाए कि यह स्थान अस्पृश्यों के लिए खुला है। डॉ.अम्बेडकर के नेतृत्व में महाड सत्याग्रह हुआ और हजारों अछूतों ने चवदार तालाब तालाब में पानी पीना शुरू किया किन्तु सनातनी प्रवृत्ति के सवर्णों ने उन पर आक्रमण कर दिया और दलितों को मारा-पीटा,जिससे बहुत से लोगों को गंभीर चोटें भी आईं। डॉ.अम्बेडकर 23 मार्च, 1927 ई. को मुंबई लौट आये और वहां के दंगाइयों को दंड दिलाने हेतु न्यायालय का सहारा लिया जिसमें कुछ दंगाइयों को दंड भी मिला। अंत में तालाब अछूतों के लिए खुल गया। इस मुक्ति संग्राम की प्रतिध्वनी महाराष्ट्र में ही नहीं अपितु पूरे भारत में गूंज

उठी(शायद, प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुँवा' पर इस आन्दोलन का प्रभाव है।) और भारत में एक नई चेतना जागृत हुई। बाद में नासिक के कालाराम मंदिर प्रवेश करने के लिए सत्याग्रह करने का इशारा डॉ.अम्बेडकर ने दिया। और 20 मार्च, 1930 को मंदिर में प्रवेश करने का दिन तय हुआ। दरअसल इस सत्याग्रह का उद्देश्य मंदिर प्रवेश न होकर, यह साबित करने का था कि अछूत हिन्दू धर्म का अंग है तो उसे मंदिर प्रवेश क्यों नहीं करने दिया जाता। बी.के. गायकवाड की अध्यक्षता में सत्याग्रह समिति ने आन्दोलन के लिए विस्तृत प्रबंध किए जिसमें पंधरा हजार स्वयंसेवक एकत्रित हुए तथा जुलूस के रूप में मंदिर तक पहुंचे, जहाँ देखा गया कि पुलिस बंदोबस्त के साथ मंदिर द्वार बंद था। प्रवेश द्वार खोलने हेतु बहुत-से स्वयं सेवकों को गिरफ्तारियां भी देनी पड़ी। जिसके चलते 9 अप्रेल को राम मूर्ति रथ यात्रा में इन्हें स्पर्श करने हेतु अनुमति मिली, किन्तु जब सत्याग्रहियों ने रथ तक पहुँचने का प्रयास किया तो सवर्ण हिन्दुओं द्वारा उन पर पत्थरों व लाठियों से हमला किया जिसमें डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर सहित कई लोग घायल हुए। फिर भी यह आन्दोलन 1935ई. तक चलता रहा। 2 मार्च 1935ई. को नासिक में डॉ.अम्बेडकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि-"मंदिर में प्रवेश से हमारी सभी समस्याओं का हल नहीं हो सकता। हमारी समस्याएं व्यापक हैं। इसका स्वरूप राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक है। किन्तु मंदिर प्रवेश सत्याग्रह उच्चवर्णीय हिन्दू को आव्हान है जिसने हमें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा था। इस सत्याग्रह से सिद्ध होगा कि वे लोग हमें मानवीय अधिकार प्रदान

करने में सहमत हैं या नहीं। यह मात्र हिन्दुओं के ह्रदय परिवर्तन करने के लिए है, इसे सफल या असफल बनाना हिन्दुओं की मनोरचना पर निर्भर है। मंदिर प्रवेश से हमारा शीघ्र कायाकल्प होगा ऐसा नहीं है, मंदिर में पत्थर की मूर्ति का दर्शन व पूजा करने से हमारी समस्याओं का हल नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं है कि आज तक इस मंदिर में जिन्होंने ईश्वर का दर्शन किया है, उनकी मूल समस्याएं हल हो चुकी हों, यह हिन्दू मन को परिवर्तन करने का एक प्रयास है।"[88] लेकिन इस सत्याग्रह से हिन्दुओं के मन का परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि इस सत्याग्रह से विभिन्न स्थानों पर अछूतों को उत्पीडन व दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ा।

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के नेतृत्व में 25 दिसंबर 1927ई. को माहड सत्याग्रह के दूसरे चरण के दौरान अछूतों के सम्मेलन में हिन्दुओं के धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' को जलाया गया। इस सम्मेलन ने अपने प्रस्ताव में माना कि मनुस्मृति किसी भी सम्मान की अधिकारी एवं पवित्र ग्रंथ कहलाने योग्य नहीं थी। इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव भी पारित किया गया कि अछूत हिन्दुओं के मृत पशुओं की खाल नहीं उतरेंगे, उसका सड़ा मांस नहीं खायेंगे तथा मैला नहीं ढोएँगे। इस तरह से डॉ.अम्बेडकर दलितों का परिवर्तन चाहते थे। उनका अनुसरण करते हुए बहुत से लोगों ने ऐसे काम करना छोड़ दिया था।

डॉ.अम्बेडकर धार्मिक क्षेत्र में सुधार करने की सोच रहे थे क्योंकि उन्होंने समस्त संघर्षों से निष्कर्ष निकाला कि अस्पृश्यता एवं जाति उत्पीड़न

शास्त्रीय ढांचे के हिन्दू धर्म की आधार शिला है, अतः इसके अंतर्गत रहकर इसको समाप्त नहीं कर सकते। चूँकि उन्होंने हिन्दू धर्म को अपरिवर्तनशील माना था। डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि "जो धर्म विषमता का समर्थन करता है, उसके विरोध का निर्णय हमने लिया है। अगर हिन्दू धर्म अस्पृश्यता का धर्म है तो उसे समानता का धर्म बनना चाहिए। अगर हिन्दू धर्म सामाजिक समता का धर्म बनना चाहता है तो अस्पृश्यों को मंदिर में मुक्त प्रवेश देकर बात बननेवाली नहीं है। इसके लिए चातुर्वर्ण्य निर्मूलन की नितांत आवश्यकता है। इस धर्म और समाज की विषमता की जड़ चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। चातुर्वर्ण्य ही अस्पृश्यता की जननी है। जातिभेद और अस्पृश्यता विषमता के अन्य रूप है। अगर इस जड़ को नष्ट नहीं किया गया तो अस्पृश्य वर्ग इस धर्म को निश्चित ही त्याग देगा।"[89] इससे पता चलता है डॉ.अम्बेडकर हिन्दू धर्म में परिवर्तन चाहते थे। लेकिन हिन्दू धर्म इतना जड़ था कि उसको कोई भी परिवर्तन स्वीकार नहीं था। इसी का परिणाम था कि डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने 13अक्तूबर 1935ई. को नासिक के येवला में एक सम्मेलन में यह घोषणा कि-" दुर्भाग्य से मैं हिन्दू पैदा हुआ हूँ, इसे रोकना मेरी शक्ति से बाहर था, किन्तु मैं आपको दृढ़तापूर्वक यह आश्वासन देता हूँ कि मैं एक हिन्दू होकर नहीं मरूँगा।"[90] डॉ.अम्बेडकर ने 1956ई. में बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपने इस आश्वासन को पूरा किया। लेकिन सोचने वाली बात यह है उनको धर्म परिवर्तन करने के लिए इतना समय क्यों लगा? दरअसल डॉ.अम्बेडकर ने 1935 से 1956 तक सभी धर्मों का अभ्यास किया और अंत में बौद्ध धर्म

अपनाया चूँकि बौद्ध धर्म समानता पर आधारित है। (इतने लंबे समय के अन्तराल में अगर हिन्दू धर्म अपनी जड़ता को छोड़ देता तो शायद डॉ.अम्बेडकर हिन्दू धर्म नहीं छोड़ते।) धर्म की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने कहा था कि –" मैं आपको फिर से यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि धर्म मनुष्य के लिए है,मनुष्य धर्म के लिए नहीं है। जो धर्म तुन्हें मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता, जो धर्म तुम्हें पीने के लिए पानी नहीं देना चाहता , वह धर्म कहलाने लायक नहीं होता। जो धर्म तुम्हारे ज्ञान और शिक्षा के अधिकार छीन लेता है, जो धर्म तुम्हारे भौतिक उत्कर्ष में बाधाएं पहुंचाता है, वह धर्म कहलाने के लायक नहीं है। जो धर्म अपने अनुयायियों को अपने ही धर्मावलंबियों से मानवीयता का आचरण करना नहीं सिखलाता, वह धर्म न होकर एक बीमारी है। जो धर्म अपने अनुयायियों को अमंगल जानवरों के स्पर्श को सहने को कहता है परन्तु उसी समय अपने ही धर्मावलंबियों के स्पर्श को पाप घोषित करता है, वह धर्म न होकर विशुद्ध पागलपन है। जो धर्म कुछ वर्गों को धनसंचय नहीं करने देता, हाथों में शस्त्र लेने की इजाजत नहीं देता, वह धर्म-धर्म न होकर मनुष्य जीवन की विडम्बना है। जो धर्म अज्ञानियों को अज्ञानी, निर्धनों को निर्धन रहने की सीख देता हो, वह धर्म न होकर भयावह कैदखाना है।"[91]

‘बुद्ध और उसके धर्म का भविष्य’ नामक एक लेख डॉ.अम्बेडकर ने 1950ई. में लिखा था। लेख के आरंभ में वे व्यक्ति जीवन में धर्म की आवश्यकता के चार कारण स्पष्ट करते हैं-

“1) समाज की ‘स्थिरता’ और ‘नियंत्रण’ के लिए नीति की आवश्यकता होती है। इनमें से किसी एक के अभाव में समाज रसातल को जा सकता है। इसलिए किसी भी समाज को धर्म की आवश्यकता होती है।

2) धर्म अगर बना रहना हो तो उसे बुद्धिप्रामाण्यवादी होना चाहिए। विज्ञान बुद्धिप्रामाण्यवादी है।

3) केवल ‘नीति की संहिता’ का अर्थ धर्म नहीं है। धर्म की नीति-संहिता में स्वतंत्रता, समता और बंधुता इन मूलभूत तत्वों को मान्यता प्राप्त होनी चाहिए।

4) दरिद्रता को पवित्र मानने का आग्रह किसी भी धर्म को नहीं करना चाहिए, अथवा ‘दरिद्रता’ का उदात्तीकरण भी नहीं होना चाहिए।”[92]

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के मतानुसार इन चारों की पूर्ति बौद्ध धर्म करता है। इसलिए उन्होंने (सभी धर्मों का अध्ययन करके) बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। दलित समाज को हिन्दू धर्म से निकालकर बौद्ध धर्म में प्रवेश करवाते समय डॉ.अम्बेडकर का यह अटूट विश्वास था कि बौद्ध धर्म के श्रेष्ठ मूल्यों को दलित अपनाएंगे, प्रखर बुद्धिवाद, अनात्मवाद और स्वयंभू शासन

की वृत्ति को स्वीकार करते हुए वे संघटित होंगे। अपनी-अपनी जाति-उपजातियों से बाहर आयेंगे और अपनी यातनाओं से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करेंगे। इसके लिए जब उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकारा था तब बाईस प्रतिज्ञाएँ भी दलितों को दी थी।

शिक्षा का महत्त्व डॉ.अम्बेडकर भलीभांति जानते थे इसलिए वे दलितों को शिक्षा के लिए प्रवृत्त करते थे। उन्होंने 12-13 फरवरी, 1938 ई. को मनमाड की एक सभा में कहा था कि-"विद्या एक तलवार है तथा यदि एक शिक्षित व्यक्ति में विनम्रता व सदाचार नहीं है, तो वह एक जंगली और दरिंदे से भयानक है। यदि एक पढ़े-लिखे मनुष्य की शिक्षा गरीब जनता की भलाई के लिए रुकावट बने तो ऐसा शिक्षित व्यक्ति समाज के लिए कलंक है, धिक्कार है ऐसे पढ़े-लिखे मनुष्य को।"[93] उनका मानना था कि अच्छा नागरिक बनाना शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य है। उनका मानना था अस्पृश्यों के उद्धार का शिक्षा ही एकमात्र मार्ग है। बाबासाहेब ने 1928ई. में दलित विद्यार्थियों के लिए दो छात्रावास प्रारंभ किए। उसी वर्ष उन्होंने 'डिप्रेस्ड क्लासेस एजूकेशन सोसायटी' की स्थापना की। उसके बाद 1946 ई. को मुंबई में 'पीपुल्स एजूकेशन सोसायटी' की स्थापन की तथा उसी के अंतर्गत 20 जून 1946 को सिद्धार्थ कालेज शुरू किया। डॉ.अम्बेडकर तकनीकी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने वाले दलित छात्रों के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने हेतु सरकार से मांग की। बाबासाहेब ने दलित विद्यार्थियों को अपने समाज की सेवा करने को कहा। जो लोग सरकारी नौकरी में चले गए हैं

वे समाज के विकास के लिए अपनी कमाई का बीसवां भाग(पांच प्रतिशत) स्वेच्छा से दान करते रहें। 'पीपुल्स एजुकशन सोसायटी' के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के शैक्षिक हितों के लिए मुंबई के केबा और अल्वर्ट नाम की दो इमारतें खरीदीं और उनका नया नाम क्रमशः बुद्ध भवन और आनंद भवन रखा। इन्हीं में सिद्धार्थ कॉलेज समूह का संचालन किया गया। उन्हीं के प्रेरणा से सितंबर 1951 ई. में औरंगाबाद में मिलिंद कॉलेज समूह का संचालन किया गया तथा अन्य कॉलेजों की भी स्थापना की गई।

डॉ.अम्बेडकर के सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक कार्यों पर ही यहाँ पर विचार किया गया, लेकिन इसके अलावा भी उन्होंने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपने सुझाव समय-समय पर सरकार को दिए हैं। सबसे महत्वपूर्ण उन्होंने इस देश को एक धर्मनिरपेक्ष संविधान दिया है। जिसमें सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं।दरअसल हम डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर को किसी एक खास क्षेत्र में सीमित कर के नहीं रख सकते चूँकि वे एक समाजशास्त्री भी हैं, एक अर्थशास्त्री भी हैं, एक राजनीतिज्ञ भी हैं, संविधान निर्माता भी हैं और उन्होंने धर्म पर भी चर्चा की है। इसलिए हम कह सकते हैं कि उन्होंने चिंतन और संघर्ष के द्वारा हमारे देश को हर क्षेत्र में प्रभावित किया है। और आज भी कर रहें हैं। ऐसे महान व्यक्तित्व का महापरिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956 ई. को हुआ।

2.4.6 कांशीराम

मान्यवर कांशीराम का जन्म 15 मार्च, 1934 में पंजाब के रोपड़ जिले में हुआ। कांशीराम का परिवार रविदासी समाज से था जो भारतीय समाज में अछूत मानी जाती है। जिस वक्त मान्यवर कांशीराम पैदा हुए उस वक्त पंजाब में क्या संपूर्ण भारत में जाति का और छुआछूत का कलंक पूर्ण रूप से व्याप्त था। अपने स्थानीय शहर से प्रारंभिक शिक्षा हासिल करने के बाद कांशीराम ने 1956 में विज्ञान विषय की डिग्री सरकारी कॉलेज रोपड़ से प्राप्त की। बौद्धिक सम्पदा के धनी मान्यवर कांशीराम सन 1958में DRDO में सहायक वैज्ञानिक के पद पर नियुक्त हुए। वहाँ पर उन्हें सबसे पहले भेदभाव का अनुभव हुआ। उन्होंने ऑफिस में देखा कि जो कर्मचारी डॉक्टर आंबेडकर का जन्मदिन मनाने के लिए छुट्टी लेते थे उनके साथ ऑफिस में भेदभाव किया जाता था। वे इस जातिगत भेदभाव को ख़त्म करने के लिए 1964 में एक दलित सामाजिक कार्यकर्ता बन गए थे। उनके करीबी लोगों के अनुसार उन्होंने यह निर्णय डॉक्टर आंबेडकर की किताब ‘एनीहिलेशन ऑफ कास्ट’ को पढ़कर लिया था। कांशीराम को डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और उनके दर्शन ने काफी पभावित किया था।

कांशीराम साहब ने शुरू में ‘रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया’ (RPI) का समर्थन किया था लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ जुड़े रहने के कारण उनका भंग हो गया था। इसक कारण उन्होंने 1971 में अखिल भारतीय

एससी, एसटी, ओबीसी और अल्पसंख्यक कर्मचारी संघ की स्थापना की जो कि बाद में चलकर 1978 में BAMCEF बन गया था। BAMCEF एक ऐसा संगठन था जिसका उद्देश्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य वर्गों और अल्पसंख्यकों के शिक्षित सदस्यों को अम्बेडकरवादी सिद्धांतों का समर्थन करने के लिए राजी करना था। BAMCEF न तो एक राजनीतिक और न ही एक धार्मिक संस्था थी और इसका अपने उद्देश्य के लिए आंदोलन करने का भी कोई उद्देश्य नहीं था। इस संगठन ने दलित समाज के उस संपन्न तबके को इकठ्ठा करने का काम किया जो कि ज्यादातर शहरी क्षेत्रों, छोटे शहरों में रहता था और सरकारी नैकारियों में काम करता था साथ ही अपने-अपने अछूत भाई बहनों से भी किसी तरह के संपर्क में नहीं था।

इसके बाद कांशीराम साहब ने 1981 में एक और सामाजिक संगठन बनाया, जिसे दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डीएसएसएस,DSSS या DS4) के नाम से जाना जाता है। उन्होंने दलित वोट को इकठ्ठा करने की अपनी कोशिश शुरू की और 1984 में उन्होंने 'बहुजन समाज पार्टी' (बसपा) की स्थापना की। उन्होंने अपना पहला चुनाव 1984 में छत्तीसगढ़ की जांजगीर-चांपा सीट से लड़ा था, बीएसपी को उत्तर प्रदेश में सफलता मिली,

शुरू में दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों के बीच विभाजन को पाटने के लिए संघर्ष किया,लेकिन बाद में मायावती के नेतृत्व में इस खाई को पाटा गया।

सन 1982 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'द चमचा युग' लिखी, जिसमें उन्होंने जगजीवन राम और रामविलास पासवान और रामदास अठावले जैसे दलित नेताओं का वर्णन करने के लिए "चमचा" शब्द का इस्तेमाल किया था। उन्होंने तर्क दिया कि दलितों को अन्य दलों के साथ काम करके अपनी विचारधारा से समझौता करने के बजाय अपने स्वयं समाज के विकास को बढ़ावा देने के लिए राजनीतिक रूप से काम करना चाहिए। बीएसपी के गठन के बाद, कांशीराम ने कहा कि उनकी 'बहुजन समाज पार्टी' पहला चुनाव हारने के लिए, दूसरा चुनाव नजर में आने ले लिए और तीसरा चुनाव जीतने के लिए लड़ेगी। 1988 में उन्होंने भावी प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह के खिलाफ इलाहाबाद सीट से चुनाव लड़ा और प्रभावशाली प्रदर्शन किया, लेकिन 70,000 वोटों से हार गए। वह 1989 में पूर्वी दिल्ली (लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र) से लोक सभा चुनाव लडे और चौथे स्थान पर रहे। सन 1991 में कांशीराम और मुलायम सिंह ने गठबंधन किया और कांशीराम ने इटावा से चुनाव लड़ने का फैसला किया, कांशीराम ने अपने निकटतम भाजपा प्रतिद्वंद्वी को 20,000 मतों से हराया और पहली बार लोकसभा में प्रवेश किया। इसके

बाद कांशीराम ने 1996 में होशियारपुर से 11वीं लोकसभा का चुनाव जीता और दूसरी बार लोकसभा पहुंचे। अपने ख़राब स्वास्थ्य के कारण उन्होंने 2001 में सार्वजनिक रूप से मायावती को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

सन 2002 में कांशीराम जी ने 14 अक्टूबर 2006 को डॉक्टर अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन की 50 वीं वर्षगांठ के मौके पर बौद्ध धर्म ग्रहण करने की अपनी मंशा की घोषणा की थी। कांशीराम जी की मंशा थी कि उनके साथ उनके 5 करोड़ समर्थक भी इसी समय धर्म परिवर्तन करें। उनकी धर्म परिवर्तन की इस योजना का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा यह था कि उनके समर्थकों में केवल अछूत ही शामिल नहीं थे बल्कि विभिन्न जातियों के लोग भी शामिल थे, जो भारत में बौद्ध धर्म के समर्थन को व्यापक रूप से बढ़ा सकते थे। हालांकि, 9 अक्टूबर 2006 को उनका निधन हो गया और उनकी बौद्ध धर्म ग्रहण करने की मंशा अधूरी रह गयी।

मायावती ने कहा कि उन्होंने और कांशीराम साहब ने तय किया था कि हम बौद्ध धर्म तभी ग्रहण करेंगे जब केंद्र में 'पूर्ण बहुमत' की सरकार बनायेंगे। हम ऐसा इसलिए करना चाहते थे क्योंकि हम धर्म बदलकर देश में धार्मिक बदलाव तभी ला सकते थे जब हमारे हाथ में सत्ता हो और हमारे साथ

करोड़ों लोग एक साथ धर्म बदलें। यदि हम बिना सत्ता पर कब्ज़ा किये धर्म बदल लेंगे तो हमारे साथ कोई नहीं खड़ा होगा और केवल 'हम दोनों' का ही धर्म बदलेगा हमारे लोगों का नहीं, इससे समाज में किसी तरह के धार्मिक क्रांति की लहर नहीं उठेगी।

मान्यवर कांशीराम के बाद में उनकी बहुजन समाज पार्टी और बामसेफ दलित समाज के लिए बेहतरीन काम कर रहे है।

2.5 दलित पैंथर आन्दोलन

भारत में शादाब्दियों से उच्च जातियाँ दलितों के मानवाधिकारों का हनन करती आई हैं, जिसके परिणामस्वरूप दलितों को अत्याचारों से प्रभावित होकर समय-समय पर आन्दोलन छेड़नी की आवश्यकता पड़ी है। और सक्रीय दलित हमेशा बाबासाहेब अम्बेडकर की विचारधारा से प्रेरित होकर उच-नीच का भेदभाव मिटाने एवं यथा-स्थिति को बदलने के लिए आन्दोलन करते है। ऐसा ही एक आन्दोलन था ‘दलित पैंथर आन्दोलन’। इस आन्दोलन का क्रियाशील युग था-1972-1979। जिसमें महाराष्ट्र के दलित युवाओं एवं सक्रिय साहित्यकारों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया एवं दलितों को डॉ.अम्बेडकर की भांति उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया एवं एक समतावादी समाज की स्थापना करने की भरसक कोशिश की गयी। इसलिए यह आन्दोलन एक विशेष आन्दोलन का प्रतिक है।

किसी भी सामाजिक आन्दोलन का अध्ययन तब तक अधूरा रहता है जब तक कि उसके अद्भव के पीछे के कारणों एवं उसकी ऐतिहासिक स्थिति का अवलोकन न किया जाए। इसलिए हम दलित पैंथर आन्दोलन के उद्भव के कारणों को यहाँ पर देखेंगे।

सबसे पहले तो हम देखेंगे कि पैंथर नाम भारत में कैसे आया। दरअसल पैंथर नाम अमेरिका के ब्लैक पैंथर से यहाँ पर आया है। डॉ.बाबासाहेब के प्रभाव से और खास तौर से उनके संस्थान मिलिंद कॉलेज और सिद्धार्थ कॉलेज से पढ़े-लिखे दलितों ने जब अमेरिका के ब्लैक पैंथर आन्दोलन और ब्लैक लिटरेचर को पढ़ा तब उन लोगों ने ऐसे ही आन्दोलन खड़ा करने का प्रस्ताव पास किया। और ब्लैक पैंथर जैसे ही यहाँ पर 'दलित पैंथर' नाम का संघठन बनाया। उन लोगों में नामदेव ढसाल, ज.वी. पवार, राजा ढाले, रामदास सोरटे, लतीफ़ खाटिक, अविनाश महातेकर, प्रल्हाद चेंडवनकर, अर्जुन डांगले, अनिल काम्बले, अरुण काम्बले, गंगाधर गाड़े, रामदास आठवले आदि थे। इन लोगों ने इस आन्दोलन को आगे बढाया। इस आन्दोलन को विस्तृत रूप से जानने से पहले ब्लैक पैंथर आन्दोलन को संक्षिप्त रूप से जानना जरूरी है। अमेरिका में ब्लैक लोगों पर श्वेत लोग अत्याचार करते थे उनको घृणा की नजर से देखा जाता था जैसे भारत में दलितों को देखा जाता था। अमेरिका में अश्वेत लोगों की श्वेत लोगों द्वारा अवमानना की जा थी तथा उनकी दासता से मुक्ति के लिए सबसे पहले अब्राहम लिंकन ने आवाज उठाई थी। उन्होंने 1886 में समानता के सिद्धांत पर आधारित तथा एक अलग प्रतिष्ठा के लिए,

‘नीग्रो लोगों’ के लिए एक अधिनियम पारित किया था जो उनकी दासता की समाप्ति के लिए था। इसके अलावा डुबोइस और मार्टिन लूथर किंग ने भी नीग्रो लोगों में आत्मसम्मान तथा आत्मविश्वास पैदा किया था।

इस प्रकार अश्वेतों की मुक्ति के लिए संघर्ष करने हेतु आन्दोलन के दो वर्ग थे एक वर्ग के आन्दोलन का नेतृत्व श्वेत तथा अश्वेत दोनों नेतागण करते थे जैसे बूकर वाशिंगटन, मार्टिन लूथर किंग, रॉय, अबनार्थी आदि जो अपना आन्दोलन अहिंसात्मक तथा लोकतांत्रिक तरीकों से चला रहे थे। दूसरे वर्ग के आन्दोलन उग्र एवं हिंसक थे तथा अश्वेत नेताओं जैसे गार्वे, डुबोइस, माल्कोम एक्स आदि की विचारधारा तथा सिद्धांतों पर आधारित थी। लेकिन दूसरे वर्ग में लोगों की संख्या कम थी। और पहले वर्ग के राष्ट्रीय अश्वेत समूह अहिंसक थे। राष्ट्रीय अश्वेत समूहों एवं आंदोलनों के अहिंसक तरीकों से नाराज होकर तथा असंतुष्ट होकर दो शिक्षित-अश्वेत युवकों ने जिनमें पी.न्यूटन तथा बॉबी जी. सीले ने 1966 ई. में ऑकलैंड(कैनिफोर्निया) में ‘आत्मरक्षा के लिए ब्लैक पैंथर पार्टी’ बनाई तथा ब्लैक पैंथर आन्दोलन चलाया जो 1974 ई. तक बहुत प्रभावशाली रूप से चला।[94]

इस ब्लैक पैंथर के अलावा दलित पैंथर पर ‘रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया’ (जो 1957 ई. में डॉ.बाबासाहेब के महापरिनिर्वाण के बाद अस्तित्व में आई थी) का भी प्रभाव था। रिपब्लिकन पार्टी भारतीय संविधान के न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भाई चारा जैसे सिद्धांतों लेकर चलती थी। 1970

ई. तक इस पार्टी के दो गुट हुए और यह पार्टी बिखर गयी। रिपब्लिकन पार्टी भी नहीं तब कौण दलितों समस्याओं के लिए लड़ेगा? ऐसे में जब 1972 ई. में दलित पैंथर की स्थापना हुई तब बहुत बड़ी संख्या में शिक्षित दलित युवक इस संगठन की ओर आकर्षित हुए। इसके अलावा द्रविड़(पेरियार) आन्दोलन, कर्नाटक का भीमसेना आन्दोलन, सांस्कृतिक संघर्ष तथा मुख्य रूप से दलितों पर अत्याचारों में वृद्धि के कारण 'दलित पैंथर' का जन्म हुआ। इस समय दलितों में राजनीतिक जागरूकता आ रही थी तथा वे अपने संविधानिक अधिकारों के प्रति सजग हो रहे थे। फिर भी उन्हें उच्च हिन्दुओं के अत्याचार सहने पड़ते थे। पुलिस तथा अन्य अधिकारी गण गांवों में अधिकतर उच्च हिन्दू जाति के थे जो दलितों की जरा-सी भी मदद नहीं करते थे। चूँकि स्वतंत्रता के इतने साल बाद भी दलितों पर अत्याचार हो रहे थे, ऐसे में 9 जुलाई, 1972 ई. में मुंबई के सिद्धार्थ नगर में दलित पैंथर की स्थापना हुई। इसमें नामदेव ढसाल,राजा ढाले,ज.वी.पवार,रामदास आठवले आदि मुख्य मुख्य रूप से सम्मेलित थे।

'दलित पैंथर' ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के निषेधार्थ उस वर्ष(1972) के स्वतंत्रता दिवस को 'काले दिन' के रूप में मनाया गया और काले झंडों के साथ दलित पैंथर के नेतृत्व में कार्यकर्ताओं ने शहर में पद यात्रा की। इसके बाद पूरे महाराष्ट्र में किसी भी गाँव में दलितों पर अत्याचार होता था, तो उस गाँव में हजारों की संख्या में दलित युवक अपना काम-काज छोड़कर हॉकी स्टीक, साईकिल की चैन, लाठी, तलवार आदि हथियार लेकर

पहुँच जाते थे और 'जैसे को तैसा'(tit for tat) के अनुसार उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाता था जैसा उस व्यक्ति ने दलित के साथ किया है और वहीं पर न्याय करते थे। इस तरह के उग्र आन्दोलन दलित पैंथर ने उस समय किये। जिसके कारण उस समय कोई भी दलितों पर अत्याचार करने से पहले दस बार सोचता था। वहीं इस आन्दोलन ने सरकार को भी दलितों की समस्याओं पर सोचने के लिए बाध्य किया था। इसलिए दलित पैंथर उग्र और क्रांतिकारी संगठना के रूप में जाने जानी लगी। दरअसल अनेक वर्षों का असंतोष जो दलित युवा में भरा था उसका उद्रेक 'दलित पैंथर' के कार्यों द्वारा बाहर आया था। इसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर ही नहीं वैश्विक साहित्य पर भी पड़ा।

आगे चल कर 'दलित पैंथर' में राजा ढाले और नामदेव ढसाल में वैचारिक मतभेद के कारण यह आन्दोलन क्षीण होता चला गया। लेकिन मराठी साहित्य को इस आन्दोलन ने बहुत बड़ी संख्या में दलित साहित्यकार दिए। जिन्होंने दलित समस्याओं को कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण, जीवनी आदि द्वारा विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया।

इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि चार्वाक से लेकर 'दलित पैंथर' तक सबका केंद्र बिंदु मनुष्य है और उस मनुष्य के सर्वांगीन विकास के लिए सभी प्रयत्नशील हैं। ये सभी चिंतक एक ऐसी समाज व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील थे जहाँ मनुष्य के प्रति आदर हो, समाज में कोई ऊँच-नीच

न हो, कोई जाति, धर्म के नाम पर किसी को नीचा न देखता हो। आधुनिक काल के दलित चिंतकों ने सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को भी दलित विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है। अब तक के सभी दलित चिंतकों ने दलित शिक्षा को अति आवश्यक माना है, जिससे दलित व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाता है और संघर्ष करता है।

संदर्भ

[1] भारतीय दर्शन- आ.बलदेव उपाध्याय, पृ.सं.78
[2] लोकायत और जनजातीय संकृति-रामप्रवेश सिंह, पृ.सं.39
[3] भारत में पिछड़ावर्ग आन्दोलन और परिवर्तन का नया समाजशास्त्र-डॉ.हरिनारायण ठाकुर, पृ.सं.25
[4] लोकायत-देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय,अ.बृज शर्मा, पृ.सं.11
[5] आस्तिक शिरोमणि-डॉ.आ.ह.सालुंखे, पृ.सं.36
[6] आस्तिक शिरोमणि-डॉ.आ.ह.सालुंखे, पृ.सं.36
[7] लोकायत-देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय,अ.बृज शर्मा, पृ.सं.7
[8] आस्तिक शिरोमणि-डॉ.आ.ह.सालुंखे, पृ.सं.37
[9] आस्तिक शिरोमणि-डॉ.आ.ह.सालुंखे, पृ.सं.38
[10] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.139
[11] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.142
[12] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.137
[13] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.126
[14] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.127
[15] भारतीय लौकिक चिंतन और चार्वाक-देवीप्रसाद मौर्य, पृ.सं.32
[16] आस्तिक शिरोमणि-ड.आ.ह.सालुंखे, पृ.सं.142
[17] अम्बेडकरी विचारधारा-सं. वेद प्रकाश, पृ.सं. 77
[18] डॉ.जयप्रकाश कर्दम-डॉ.अम्बेडकर:दलित और बौद्ध धर्म,पृ.सं.02
[19] दर्शन-दिग्दर्शन-राहुल सांकृत्यायन, पृ.सं.443
[20] संत रैदास-एक विश्लेषण- कँवल भारती, पृ.सं.85
[21] हाशियें का वृतांत-सं.दीपक कुमार,देवेन्द्र चौबे,पृ.सं.236
[22] संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ.सं.122
[23] हाशियें का वृतांत-सं.दीपक कुमार,देवेन्द्र चौबे,पृ.सं.238
[24] बुद्ध और उनका धम्म-डॉ.भीमराव रामजी अम्बेडक,पृ.सं.103-104
[25] संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ.सं.122-123
[26] संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ.सं.123
[27] बुद्ध और उनका धर्म-डॉ.भीमराव रामजी अम्बेडकर,पृ.सं.255
[28] बुद्ध और उनका धर्म-डॉ.भीमराव रामजी अम्बेडकर,पृ.सं.255
[29] हिंदी काव्यधारा- राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद,प्र.सं.1945(संपूर्ण किताब)
[30] दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा-बजरंग बिहारी तिवारी, पृ.सं.32
[31] अम्बेडकरवादी विचारधारा:इतिहास और दर्शन-सं.वेदप्रकाश,पृ.सं.45
[32] दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा-बजरंग बिहारी तिवारी, पृ.सं.33
[33] बुद्ध चर्या-राहुल सांकृत्यायन,भूमिका पृ.सं.10
[34] दोहाकोश-राहुल सांकृत्यायन, पृ.सं.2
[35] दोहाकोश-राहुल सांकृत्यायन, पृ.सं.3

[36] दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म-कँवल भारती, पृ.सं.63
[37] दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म-कँवल भारती,पृ.सं.64
[38] भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास-1-मोहनदास नैमिशराय,पृ..सं.15
[39] संत रैदास का निर्वर्ण संप्रदाय-डॉ.धर्मवीर, पृ.सं.16
[40] दलित साहित्य:अनुभव,संघर्ष एवं यथार्थ-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.62-63
[41] संत साहित्य आजचे क्रांतिविज्ञान-बाबूराव बागूल, पृ.सं.11
[42] दलित साहित्य:अनुभव,संघर्ष एवं यथार्थ-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.62
[43] दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा-बजरंग बिहारी तिवारी,पृ.सं.34
[44] दलित साहित्य के अग्रदूत:गुरू रविदास-डॉ.चमनलाल, पृ.सं.7-8
[45] भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.15
[46] स्वामी विवेकानंद-नरेंद्र कोहली, पृ.सं.325-330
[47] आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास-शैलेन्द्र पाथरी,अमरेन्द्र प्रतापसिंह, पृ.सं.281
[48] महात्मा ज्योतिबा फुले-कन्हेयालाल चंचरीक,पृ.सं.5
[49] महात्मा ज्योतिबा फुले-कन्हेयालाल चंचरीक,पृ.सं.89,
[50] महात्मा ज्योतिबा फुले-कन्हेयालाल चंचरीक,पृ.सं.155
[51] www.hindisamay.com
[52] महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली-सं.एल.जी.मेश्राम,पृ.सं.35
[53] महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली-सं.एल.जी.मेश्राम,पृ.सं.241-247
[54] बीसवीं सदी में दलित-रामविलास भारती,पृ.सं.35-36,अनामिका प.एंड डी.(प्रा.)लि.,नयी दिल्ली,संस्करण-2014
[55] बीसवीं सदी में दलित-रामविलास भारती,पृ.सं.38,अनामिका प.एंड डी.(प्रा.)लि.,नयी दिल्ली,संस्करण-2014
[56] गुलामगिरी-ज्योतिबा गोविंदराव फुले,परिक्षेप-12,अनु.विमलकीर्ति,सं.जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं.44-100
[57] महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली,खंड-1-सं. एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति',पृ.सं.289
[58] महात्मा ज्योतिबा फुले-कन्हेयालाल चंचरीक,पृ. सं.33
[59]भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास-मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.411
[60] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.6-10,
[61] भारत के सामाजिक क्रांतिकारी-देवेन्द्र कुमार बेसेंतरी,पृ.सं.177.
[62] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.20
[63] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.44-45
[64] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती, पृ.सं.61
[65] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.139
[66] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.140
[67] सामाजिक क्रांति के अजेय योद्धा पेरियार ई.वी.रामास्वामी-डॉ.ब्रजलाल वर्मा,पृ.सं.207
[68] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती,पृ.सं.58
[69] स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' संचयिता-सं.कँवल भारती, पृ.सं.58
[70] स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' संचयिता-सं.कँवल भारती, पृ.सं.58
[71] भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी-देवेन्द्र कुमार बेसेंतरी,पृ.सं.140

[72] भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी-देवेन्द्र कुमार बेसैंतरी,पृ.सं.138
[73] भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी-देवेन्द्र कुमार बेसैंतरी,पृ.सं.139
[74] भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी-देवेन्द्र कुमार बेसैंतरी,पृ.सं.138
[75] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर-डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.28,
[76] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर-डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.34
[77] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर-डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.37
[78] हिंदी की दलित पत्रकारिता पर अम्बेडकर का प्रभाव-डॉ.श्योराज सिंह'बेचैन' पृ.सं.160
[79] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर-डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.30-32
[80] बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाड्मय-भाग-एक, पृ.सं.30-31
[81] हिन्दुची जातिप्रथा व ती मोडन्याचा मार्ग- डॉ.बाबासाहेब आम्बेडकर, पृ.सं.14
[82] हिन्दुची जातिप्रथा व ती मोडन्याचा मार्ग- डॉ.बाबासाहेब आम्बेडकर, पृ.सं.14

[83] डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर-डॉ.सूर्यनारायण रणसुभे, पृ.सं.67
[84] महानायक बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.51
[85] डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर-सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.69
[86] डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर-सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.70
[87] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती,पृ.सं.92
[88] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती,पृ.सं.93
[89] डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर-सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.80
[90] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती,पृ.सं.95
[91] डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर-सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.82
[92] डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर-सूर्यनारायण रणसुभे,पृ.सं.82
[93] बीसवीं सदी में दलित समाज-रामविलास भारती,पृ.सं.97
[94] दलित पैंथर आन्दोलन-सं.एस.एस.गौतम,अनु.अजय कुमार,पृ.सं.31-32

अध्याय तीन

भारतीय दलित साहित्य में दलित आत्मकथा एक आलोचनात्मक दृष्टि

आधुनिक गद्य साहित्य में आत्मकथा ने एक स्वतंत्र विधागत स्वरूप प्राप्त किया है। आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ है 'अपनी कथा' या हम कह सकते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं। आत्मकथा, आत्मकथन, आत्मचरित्र इन शब्दों का सामन्यतः अर्थ समान ही लिया जाता है। अंग्रेजी के Autobiography (ऑटोबायोग्राफी) को हिंदी में आत्मकथा या आत्मवृत्त कहा जाता है। मायक्रोपीडिया ब्रिटानिका में इस प्रकार परिभाषा दी गई है- "Non-fictional literature, the subject of which is the life of an Individual. In general. The form is considered to include autobiography. In which the subject recounts his other own history. Biography can be seen as a branch of history, because it depend on a selected ordering and interpretation of materials, written and oral established through research and personal recollection. It can also be seen as a branch of imaginative. Literature in that it seeks to

convey a sense of the individuality and significance of the subject. Through creative sympathetic insight."[1] संक्षिप्त में कह सकते हैं- जिसमें एक व्यक्ति अपनी स्वयं की भूतकालीन घटनाएँ याद करता है। चरित्र को इतिहास की शाखा के रूप में भी देखा जाता है। क्योंकि यह चुनी हुई क्रमबद्ध विश्लेषणात्मक बातें होती हैं। यह मौखिक या लिखित प्रकार की हो सकती है और यह वैयक्तिक स्मृतियाँ और संशोधन के माध्यम से सिद्ध की हुई होती है। इस प्रकार को काल्पनिक साहित्य में भी देखा जा सकता है। जिसमें व्यक्तिगत ढंग की अनुभूति और व्यक्ति का महत्व दिखाने का प्रयास होता है।

चेम्बर्स डिक्शनरी में-Autobiography का अर्थ इस प्रकार दिया है- "someone's own account of their life, the literary genre of accounts of peoples lives as recorded by themselves."[2] इसको हम एक व्यक्ति के जीवन का खुद के द्वारा किया हुआ बयान कह सकते हैं।

हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण आलोचक मैनेजर पांडेय आत्मकथा के सन्दर्भ में कहते हैं- "आत्मकथा वह व्यक्ति लिखते हैं जिनको समाज में अपने महत्वपूर्ण होने का बोध है या कभी-कभी भ्रम होता है, क्योंकि जो महत्वपूर्ण होता है उसी के जिंदगी में दूसरों को दिलचस्पी होती है और लोग उसके जीवन के सच और झूठ को जानना भी चाहते।"[3]

डॉ.नगेन्द्र ने आत्मकथा को इस प्रकार परिभाषित किया है-" आत्मकथाकार अपने संबंध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न सृष्टि नहीं रचता, वरन अपने गत जीवन के खट्ठे-मिठ्ठे, उजाले-अँधेरे, प्रसन्न-विषन्न, साधारण-असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत पुनः कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य सूत्रों का अन्वेषण करता है।"[4]

हरिवंशराय बच्चन आत्मकथा के सन्दर्भ में कहते हैं-" आत्मकथा, लेखन की वह विधा है, जिसमें लेखक ईमानदारी के साथ आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने देश, काल, परिवेश से सामंजस्य अथवा संघर्ष के द्वारा अपने को विकसित एवं प्रस्थापित करता है।"[5]

दलित आत्मकथा के बारे में मैनेजर पांडेय कहते हैं-" दलित आत्मकथा एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक समुदाय की आत्मकथा है।"[6] दलित और गैर-दलित आत्मकथा के संबंध में श्योराजसिंह बैचेन कहते हैं- "दलित साहित्यकार ने जिस पीड़ा को भोगा है उसे वह जब मुखर अभिव्यक्ति देता है तो एक नयी चेतना जन्म लेती है। जिसका अभाव हिंदी साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है।"[7] इस अभाव को दलित साहित्य ने पूरा किया है और साहित्य में खासकर आत्मकथा को संपूर्णतः में स्थापित करने में दलित आत्मकथाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। चूँकि अबतक के (भारतीय) मुख्यधारा के साहित्य से छूट गए समाज (या जानबूझकर छोड़े गए) की अभिव्यक्ति दलित साहित्य में ही हो

पायी। और शायद दलित साहित्य लिखा नहीं जाता तो अभी तक के छूटे हुए(?) समाज का यथार्थ हमारे सामने नहीं आया होता। वैसे दलित साहित्य का उदय मराठी में हुआ, वहां से होते हुए दलित साहित्य का आगाज हिंदी में हुआ। आज देश के सभी भाषाओं में दलित साहित्य अपना स्थान बना चुका है। दलित साहित्य का एक आन्दोलन के रूप में या साहित्यिक भाषा में कहे तो विमर्श के रूप में प्रचलित होने में दलित आत्मकथाओं का स्थान अग्रणी है। दलित समुदाय में व्याप्त खुरदरेपन को, उनकी बेबसी एवं पीड़ा को वास्तविक रूप से सबके सामने लाने का कार्य दलित आत्मकथाओं ने किया है। दलित आत्मकथाकारों ने शब्दों को शस्त्र के रूप में अपनाया और अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाकर अपने समाज के नग्न यथार्थ को समाज के सामने रखकर समाज को आईना दिखाने का कार्य किया है।

भारतीय समाज व्यवस्था में पनपती जातीयता का विद्रूप रूप दर्शाने का कार्य दलित आत्मकथाकारों ने किया है। छुआछूत जैसी कोढ़ की तरह बढ़ती बिमारी समाज को किस हद तक विद्रूप एवं भयानक बना चुकी है इसका एहसास दलित आत्मकथाओं को पढ़ने के उपरांत बड़ी शिद्दत से होता है। दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता रही है कि ये आत्मकथाएं विशिष्ट व्यक्ति(आत्मकथाकार) की आपबीती होते हुए भी वह विशिष्ट व्यक्ति तक सीमित न रहकर आत्मकथाकार के समाज की कहानी बन जाती है। प्रत्येक आत्मकथा व्यष्टि से शुरू होकर समष्टि का रूप धारण कर लेती है। वैसे डॉ.राय पास्कल ने आत्मकथा के सन्दर्भ में कहा है कि "आत्मकथा समष्टि में से

व्यष्टि को उभारने का प्रयास है।"[8] यह परिभाषा सामान्यतः मुख्यधारा की आत्मकथाओं के साथ बखूबी लागू हो सकती है लेकिन दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में नहीं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि दलित आत्मकथा की शुरुआत भले ही 'मैं' से होती हो अंत तक आते-आते 'हम' का स्वरूप धारण कर लेती है।

डॉ.बजरंग बिहारी तिवारी ने दलित आत्मकथाओं की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ बुनियादी बातों की चर्चा की है। इसको वे तीन बिंदुओं में बाँटते हैं- "1) विद्रोही चेतना 2) इतिहास बोध 3) भविष्य दृष्टि। किसी भी अम्बेडकरवादी आत्मवृत्त की निर्मिति, लक्ष्य और प्रभाव इन तीनों बिंदुओं से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। रचनाकार की **विद्रोही चेतना** इन तीन चीजों से मिलकर बनती है- 1) मेरे पूरे समुदाय का दुःख मेरा है और मेरा दुःख सिर्फ मेरा नहीं है। 2) यह दुःख वर्ण-जातिवादी समाज-व्यवस्था की देन है। 3) मैं इस व्यवस्था को सिरे से अस्वीकार करता / करती हूँ और प्रयत्नशील हूँ कि पूरा समाज या कम से कम मेरा समुदाय ऐसा ही करे।

अम्बेडकरवादी लेखक / लेखिका **इतिहास बोध** से कभी विच्छिन्न नहीं होता / होती। उसक इतिहास बोध का आशय है : 1) वर्चस्व का कोई दैवी आधार नहीं होता। समानता, दैवीयता और ईश्वरवाद प्रभुत्व को कायम रखने की तरकीबें हैं। 2) मनुष्य के विकास-क्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाना चाहिए। 3) शोषण और उत्पीडन के सभी रूपों का संज्ञान लिया जाना

आवश्यक है। इसमें विकास विस्थापन और शासन से जुड़े मुद्दों के साथ आन्तरिक जातिवाद तथा पितृसत्ता के मुद्दे विशेष रूप से शामिल हैं। **भविष्य-दृष्टि** के अंतर्गत निम्न बिंदु विचारणीय है: 1) वैकल्पिक समाज की सम्भावना में यकीन/ प्रतिरोध की संस्कृति से सम्बद्धता। 2) समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों में विश्वास। 3) दलित अस्मिता के लिए संघर्ष लेकिन इस अस्मिता को ही अंतिम न मानकर सम्पूर्ण मनुष्यता की बेहतरी का लक्ष्य।"[9] दरअसल, दलित आत्मकथा या पूरा दलित साहीत्य मनुष्य धर्म पर आधारित है। इसमें कहीं पर भी, किसी के साथ भी भेदभाव दिखाई नहीं देता। चाहे वह उच्च वर्ग का हो या नीचले वर्ग हो। समानता की भावना दलित साहित्य में विद्यमान है। चूँकि जिस पीड़ा से वे गुजरकर या होकर आये हैं उसमें वे किसी को देखना नहीं चाहते, यह दलित लेखकों की लेखनी से स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसलिए दलित आत्मकथा में हम देख सकते हैं कि शुरुआत से अंत तक एक (दलित)मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्थापित करने का संघर्ष दिखाई देता है।

वर्तमान के साहित्यिक-वैचारिक परिदृश्य में दलित आत्मकथाओं ने बहुत कुछ नया जोड़ा है। इस नएपन को बजरंग बिहारी तिवारी ने निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट किया है-

"क) साहित्य में 'कल्पना' को केन्द्रीय महत्व मिलता रहा है। छायावादी दौर में कल्पना-शक्ति की केन्द्रीयता स्थापित हुई जो बाद में भी कमोबेश बनी

रही। असल में पूर्व आधुनिक साहित्येतिहास में जो दर्जा भक्ति-काव्य का है वही आधुनिक दौर में छायावाद का। व्यवस्था की मजबूती से हैरान-परेशान छायावाद ने सुकून की एक शरणस्थली प्रकृति में बनाई तो दूसरी 'कल्पना के कानन' में। इस छायावादी भावबोध की निरंतरता बनी रही । प्रगतिवादी साहित्य ने इस निरंतरता पर चोट की लेकिन उसने जो 'यूटोपिया' पेश किया, जिस साम्यवादी समाज के कल्पना-लोक में विचरण कराया वह कुछ मायनों में छायावादी का विस्तार था। प्रगतिवादी लेखन में उपन्यास-विधा को केन्द्रीयता मिली, उपन्यास में यथार्थ-चित्रण पर बल रहा, लेकिन कल्पना की भूमिका भी महत्वपूर्ण बनी रही। यथार्थ-चित्रण पर बरक्स आकांक्षित समाज की रूपरेखा रखने का आग्रह जो था! समस्या के साथ उसका समाधान प्रस्तुत कर देना उस मूल्यवान विचार-परियोजना का अनिवार्य हिस्सा था। दलित आत्मवृत्तों में समस्या के समाधान की, कल्पना की सक्रियता की कोई गुंजाईश नहीं बनी। इस विधा के भीतर इसकी गुंजाईश बन भी नहीं सकती थी। दलित-लेखन ने आत्मवृत्त विधा को अपनी पहचान के रूप में प्रस्तुत किया। उसने इस तरह एक धारा का निर्माण किया । दलित आत्मकथनों में घोषित रूप से सिर्फ वास्तविकता है । घालमेल रहित वास्तविकता । ख) पुराने साहित्य में उच्च कुलोद्भव ही प्रायः नायक होते थे । वे 'अवतारी' थे । महामानव थे । आधुनिक काल के प्रारंभिक 'युगों' में अवतारी नायकों की अवधारणा बंद हुई लेकिन 'महामानव' नायक बने रहे । प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी के नायक ऐसे ही हैं । प्रेमचंद के साहित्य ने साधारण सामाजिक

पृष्ठभूमि वाले चरित्रों को नायक बनाया। समाजवाद के विधिवत आगमन के बाद 'लघुमानव' की प्रतिष्ठा हुई। अम्बेडकरवाद ने लघुमानव की जगह दलित दमित मानव को नायकत्व प्रदान किया। दलित आत्मवृत्तों ने नायक की अवधारणा में युगांतर उपस्थित किया। जो नेपथ्य में थे, साहित्य के मंच से बहिष्कृत थे, उन्हें सामाजिक-संरचना के नाभिक के रूप में प्रस्तुत किया गया। अवतारी-मानव, महामानव, साधारण मानव से होते हुए लघुमानव और दलित-मानव का यह क्रम समाज के जनतंत्रीकरण का परिवर्तन-क्रम भी है। उत्पीड़ित-उपेक्षित मनुष्यों को विमर्श के केंद्र में ले आने का काम दलित आत्मवृत्तों ने किया है। ग) क्योंकि पठन-पाठन की दुनिया में तमाम दलित समुदायों का प्रवेश वर्जित रहा इसलिए उनका कोई लिखित इतिहास भी नहीं है। अम्बेडकरवादी आन्दोलनों के बाद अपने अतीत के प्रति जो नई जागरूकता जन्मी उसके चलते इतिहास-लेखन के प्रयास शुरू हुए। इन प्रयासों में शुद्ध इतिहास-लेखन एक तरफ है तो गैर पारंपरिक ढंग से इतिहास-लेखन दूसरी तरफ। दलित आत्मवृत्त गैर पारंपरिक इतिहास के रूप में भी पढ़े जा सकते हैं, पढ़े जाने चाहिए। इतिहास-लेखन का पारंपरिक तरीका जिन स्त्रोतों से सामग्री पाता है, आत्मवृत्त उनका यथासंभव सदुपयोग करते हुए उन स्त्रोतों पर ज्यादा भरोसा करता है जो अब तक गौण माने जाते आए हैं। सामूहिक-स्मृति गीतों, कथाओं, दृष्टान्तों, लोकोक्तियों, मुहावरों व भाषिक व्यवहार के अन्य रूपों, जीवन की शैलियों, संस्कारों में सुरक्षित होती हैं। आत्मवृत्त इनका भरपूर उपयोग करते हैं। मौखिक या अलिखित स्त्रोतों के

प्रति यहाँ पूरा सम्मान है । ये स्रोत अतीत-निर्माण के लिए जीवन कोष हैं । तकनीकी इतिहास-लेखन जहाँ विचारधारा के दबाव से, अस्मिता के उग्र आग्रह के चलते कृत्रिमता का शिकार हो सकता है, वहीं आत्मवृत्तों में इसकी आशंका अपेक्षाकृत कम होती है इसलिए, उनके द्वारा रचित इतिहास अधिक भरोसेमंद माने जा सकते हैं । घ) दासता और स्वतंत्रता का निर्धारण तत्व चेतना है । हो सकता है कि देखने में जो स्वतंत्र दिखाई पड़े वह चेतना के स्तर पर अभी भी दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ हो । इसके विपरीत जो गुलामी के घेरे में दिखे वह मानसिक स्तर पर आज़ाद हो । स्वतंत्रता या परतंत्रता वास्तव में मन:स्थितियां हैं । किसी के स्वतंत्र होने का सबूत हमें तब मिलता है जब उसकी 'स्वतंत्र अभिव्यक्ति' सुनाई, दिखाई देती है । आत्मवृत्त इसी स्वतंत्रता की निर्भान्त अभिव्यक्ति है । वह उदीयमान समुदाय के असंतोष का अनुभव नहीं करता । असंतोष के अनुभव के बिना प्रतिरोधी साहित्य नहीं रचा जा सकता । अम्बेडकरवादी आत्मवृत्त प्रतिरोध के स्वर हैं; असंतोष की अभिव्यक्तियाँ हैं । आत्मवृत्त के जरिए अपने को व्यक्त करनेवाला समाज असल में गतिशील, पुरोगामी समाज है । आत्मवृत्त एक तरफ यदि नव जागृत समाज की स्वातंत्र्य-भावना के सबूत हैं तो दूसरी तरफ स्वायत्त अस्मिता पर मंडराते नए-पुराने खतरों का संज्ञान लेते हुए प्रतिरोधी चेतना के उभार के संकेतक भी हैं । ड) कल्पना के बजाय यथार्थ, स्वप्न के बजाय आकांक्षा, महामानव के बजाय उत्पीड़ित मनुष्य को प्राथमिक मानने वाले अम्बेडकरवादी आत्मवृत्त स्वाभाविक रूप से शास्त्रीय भाषा के स्थान पर

जिन्दगी की भाषा का पक्ष लेते हैं । भाषा का परिष्कार, परिमार्जन, परिनिष्ठता की उन्हें परवाह नहीं । वे बोलचाल परक सहज, जीवन्त, अनगढ़ भाषा को तरजीह देते हैं । इस भाषा में जिंदगी का संघर्ष दर्ज होता है, अकृत्रिम उमंगों का अनुभव भी ।”[10] यहाँ पर बजरंग बिहारी तिवारी ने दलित साहित्य को तथाकथित मुख्य धारा के हिंदी साहित्य की अगली कड़ी के रूप में स्थापित करने की कोशिश की है लेकिन तथाकथित मुख्य धारा के साहित्यकार इस बात को नहीं मानते । शायद यही एक कारण है कि दलित साहित्यकारों को अपनी एक अलग परम्परा खोजने की जरुरत पड़ी हो, और उन्होंने खोजी भी है । वही परम्परा प्रतिरोधी स्वर के रूप में उभरी है । यह प्रतिरोधी स्वर पुराने ढांचे को तोड़ना चाहता है । इसी प्रतिरोधी स्वर को हम अमर शेख की एक कविता में देख सकते है, वे लिखते है –

“इस पुरानी ईमारत को धक्का देकर तोड़ दो

यह ईमारत बहुत पुरानी हो गयी है

अकारण मरेंगे बहुत से

इसलिए इसे पहले गिरा दो धक्का देकर

आवाज दो, आवाज दो

इकट्ठा करो लोकशक्ति को और गिरा दो इसे

और बाँधों नई ईमारत

.....हूँ मैं अज्ञानी, देहाती

फिर भी एक पत्थर तो बैठ जाने दो मेरे हाथ से

छन्नी का एक घाव तो बैठने दो पत्थर पर

मानवता का नया मंदिर बांधना है मुझे यहीं पर ।”[11]

दलित साहित्य के नायक अब सामाजिक परिवर्तन के लिए थोडा-सा ही क्यों न हो, सहयोग देना चाहते हैं। यही दलित, दमित समाज के नायक हैं जो अब तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य को चुनौती दे रहे हैं । अब वे बगावत कर रहे हैं और मानवीय स्वतंत्रता की बात कर रहे हैं । दलित साहित्य की विधा आत्मकथा ने इसकी बखूबी पूर्ति की है। इसलिए हम कह सकते हैं कि दलित आत्मकथा ने दलितों का इतिहास लिखना शुरू किया है।

जिस दलित साहित्य की शुरुवात मराठी भाषा में हुई थी उसकी दस्तक आज भारतीय दलित साहित्य में दिखाई देती है। उसमें भी आत्मकथाओं की चर्चा सबसे ज्यादा हुई है । भारतीय भाषाओं में जैसे मराठी, हिंदी, मलयालम भाषाओं में दलित आत्मकथाएं लिखी गयी हैं । लेकिन सबसे ज्यादा मराठी और हिंदी भाषा में आत्मकथाएं लिखी गयी हैं। यहाँ पर हम भारतीय भाषाओं में लिखित दलित आत्मकथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे----

3.1 मराठी दलित आत्मकथाएँ

मराठी में दलित आत्मकथाओं का लेखन कार्य प्रचुर मात्रा में हुआ है । लेकिन यहाँ पर हम सिर्फ महत्वपूर्ण आत्मकथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे । **बलुतं (अछूत) - दया पवार:-**

बलुतं या अछूत यह दया पवार की आत्मकथा है, जो सन 1978 ई. में प्रकाशित हुई थी । यह प्रथम दलित आत्मकथा है । इसमें लेखक ने अपने चालीस वर्षों के विगत जीवन की त्रासदी का जिक्र किया है । आत्मकथा में चित्रित लेखक का परिवार एवं समाज अस्पृश्यता, दारिद्रय, भूक, सामाजिक विषमता, ऊँच-नीच, अन्याय-अत्याचार जैसे अनेक संकटों से ग्रस्त है । इन्हें जीवनयापन के लिए चौबीसों घंटे सवर्णों के अनेक प्रकार के कष्टप्रद एवं निम्नप्रकार के काम करने पड़ते हैं । दरअसल, महाराष्ट्र के गांवों में 'बलुतं' प्रथा है, जो 12 बलुतेदार के नाम से जाने जाते हैं । बारह बलुतेदार उन्हें कहा जाता है जो सवर्णों को सभी प्रकार की सेवा(?) देते हैं, जैसे बढई, लुहार, चमार, कुम्हार, तेली, माली, येस्कर,मांग, महार, सोनार, नाई, दर्जी इत्यादि । ये बलुतेदार सवर्णों के घर से लेकर खेतों तक के सभी प्रकार के काम करते हैं, यह काम भी जातिनुसार बांटें हुए हैं । इन बलुतेदारों को साल के अंत में जो अनाज दिया जाता है उसे 'बलुतं' कहते हैं । इस अलिखित परम्परा को हम आज भी महाराष्ट्र के गांवों में देख सकते हैं । हम यहाँ पर दलित आत्मकथा 'बलुतं' की बात कर रहे थे, इस आत्मकथा में एक सवर्ण महारों के सन्दर्भ में कहता है- "अरे धेडों ! तुम्हारी माँ की ......काम के नाम पर नानी

मरती है और बलुतं लेने सबसे आगे । क्या तुम्हारे बाप का अनाज है ?"[12] ऐसे अनेकानेक उपेक्षा भरे वक्तव्य सुनने पड़ते थे ।

यह आत्मकथा केवल एक व्यक्ति की आत्मकहानी ही नहीं बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था ने हाशिए पर धकेले 'महार' समाज की कहानी है । इस आत्मकथा में लेखक ने अपने पारिवारिक एवं सामाजिक दारिद्रय पर यथार्थ रूप से प्रकाश डाला है । लेखक के दादा की मृत्यु के बाद इस परिवार का बोझ ढ़ोने का काम दादी पर आता है और पुनः पिता की मृत्यु के बाद माँ पर । दया पवार लिखते हैं- "माँ ने मर्दों की सी कमर कस ली । जिंदगी भर तूफानी कष्ट उठायें ।"[13] लेखक की माँ ने जंगल से लकड़ियाँ लाकर बेचना, कभी कवाखाना, कामठीपुरा, गोलपिठा से कचरा उठाना आदि काम किये हैं ।

अस्पृश्यता का शाप भोगते हुए लोगों के व्यथापूर्ण चित्र आत्मकथा में आये हैं, "होटल में महार-मांग-चमारों के लिए अलग कप होते । उनका कान टूटा हुआ । चारों ओर मकोड़ों की कतारें । चाय पिने वाले को ही वह कप भी धोना पड़ता ।"[14] इस अस्पृश्यता भरी जीवन कहानी में लेखक का मन अनेक जगह आक्रांतित दिखाई देता है । आत्मकथा में दलितों में स्थित जातिगत अस्पृश्यता की स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है । चमार-महारों के कुएँ से पानी नहीं लेते, नाई महारों के बाल नहीं काटता और आदिवासी ठक्कर भी महारों को स्पर्श नहीं करते, जिसे यह आत्मकथा नग्न रूप में पाठकों के सामने रखती है।

अस्पृश्यता, दारिद्रय एवं भूख इस आत्मकथा के केंद्रबिंदु हैं । पेट में उफनती आग को मरे हुए जानवरों का मांस, यसकर(वह महार जो गाँव के सीमा की रक्षा करता है, उसे महार कहते हैं । गाँव के सीमा की रक्षा के बदले उसे रोज सुबह श्याम सवर्णों के घर जाकर –जोहार पाटिल भाकरी दो- बोलना पड़ता है ।) पाली से मांगकर लाये टुकडे, विवाह एवं अन्य समय पर दिए जानेवाले भोज का जूठन, न हजम होने वाले वनस्पतियों के बीज खाकर पेट की आग बुझाने के प्रयास आदि का चित्रण दया पवार ने इस आत्मकथा में किया है । इस स्थिति के सूत्र आर्थिक विषमता में दिखाई देते हैं । चूँकि सारे आर्थिक अधिकार सवर्णों के पास थे । इसी अर्थाभाव के कारण दया पवार के पिता को गाँव छोड़कर मुंबई जाना पड़ता है और वहां पर गोदी में काम करना पड़ता है । इसी अर्थाभाव के कारण ठीक से उपचार न होने के कारण दया पवार के पिता मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

इस आत्मकथा में महार समाज में व्याप्त श्रद्धा, अंधश्रद्धा, उत्सव, त्यौहार, संस्कार, विवाह आदि का चित्रण भी हुआ है । साथ ही रूढ़ी-परम्परा एवं महारों के जीवन से जुड़े मिथकों का भी प्रयोग हुआ है । इन मिथ्या मिथकों को रचनेवाले एवं अन्याय-अत्याचार करनेवाले समाज के प्रति आत्मकथा में आक्रोश व्यक्त किया गया है ।

इस(अछूत) आत्मकथा में डॉ.बाबासाहेब द्वारा चलाये गए दलित आन्दोलन का चित्रण है । विशेषकर कामरेड दादासाहेब गायकवाड के कार्यों

का परिचय मिलता है , साथ ही रिपब्लिकन पक्ष, दलित पैंथर जैसे संगठनों में आयी विकृति भी आत्मकथा में चित्रित हुई है ।

इस आत्मकथा में परिस्थितियों के मारे व्यक्तियों की जो व्यक्ति रेखाएँ हैं, वह अपने शारीरिक विशेषताओं के साथ अभिव्यक्त हुई हैं । लेखन ने बड़े कलात्मक ढंग से उनकी सुकृति एवं विकृतियों को स्पष्टता एवं तटस्थता से चित्रित किया है, फिर वह अपने पिता के अनैतिक संबंध भी क्यों न हो । इन व्यक्तिरेखाओं में हमेशा मेहनत करनेवाली माँ, धामनगाँव की पीड़ित दादी, व्यसनाधीनता से शरीर को नष्ट करनेवाले पिता । निपुत्रिक होने की वेदना सहती विठाबाई, परित्यक्ता सई, सट्टा- बेटिंग करनेवाला चंदर, माँ के दुश्चरिता होने की अफवा उड़ानेवाला उमाआज्या, लेखक का पहला प्यार मराठा समाज की बानू, लेखक के पारिवारिक जीवन में आई दरार को पाटकर कटी पतंग की डोर संभालने वाली सलमा, यौन विकृति के कारण घोड़ी से संभोग करता दामू, परिस्थिति के कारण वेश्या बनी जमना मावशी आदि का यथार्थ चित्रण इस आत्मकथा में हुआ है ।

'अछूत' आत्मकथा की भाषा एक शिक्षित कवि की साहित्यिक भाषा का रूप है, जो पात्रानुसार बदलती है । गाँव के पात्रों के संवाद बोलीभाषा का रूप अपनाते हैं । जहाँ भी महार समाज के जीवन व्यवहार में आनेवाले शब्द आये हैं, वहाँ उसका अर्थ समझाने का प्रयास लेखक करते हैं । इससे ऐसा लगता है कि वे सफेदपोश लोगों को अपनी व्यथा सुनाना चाहते हों ।

आत्मकथाकार मूलतः कवि होने के कारण आत्मकथा की भाषा कहीं-कहीं काव्यात्मक रूप ग्रहण करती है । लेखक बानू के प्रेम प्रसंग को चित्रित करते हुए लिखते हैं- “स्कूल पहुँचने पर मेरा मन दूर आकाश में किसी पक्षी के पहाड़ की चोटी पर उडान भरने-सा रोमांचित हो उठता । मुक्ति का आनंद मिलता ।”[15] काव्यात्मक भाषा के साथ ही लेखक ने अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी आत्मकथा में किया है । आत्मकथा में कहावतें एवं मुहावरें विशेष ध्यान खिंचते हैं । आत्मकथा में निवेदन शैली का विशेष प्रयोग हुआ है ।

यादों के पंछी- प्रल्हाद ईरनाक सोनकाम्बले :-

दलित आत्मकथा में ‘यादों के पंछी’ अपना विशिष्ट स्थान रखती है । आत्मकथा में प्रल्हाद के बचपन से लेकर मिलिंद महाविद्यालय में अध्यापकीय कार्य एवं वैवाहिक जीवन की शुरुआत तक के बीस वर्षों के स्थल, काल एवं घटनाओं को अभिव्यक्त किया गया है । यह आत्मकथा सत्ताईस ललित लेखों में है । बारह आलेखों में अपने गाँव सुल्लाली, दीदी के गाँव चेरा, प्राथमिक शिक्षा केंद्र हडतोली, माध्यमिक शिक्षा का स्थान अहमदपुर के परिवेश एवं सामाजिक, आर्थिक स्थिति का विवरण है । अन्य लेखों में अपना महाविद्यालयीन जीवन, छात्रावास, अस्पृश्यता, जात-पात, दारिद्रय, भूख, दलित आन्दोलन, मिलिंद महाविद्यालय के प्राचार्य म.ना. वानखेडे से परिचय एवं उनके कार्य की यादों का लेखा-जोखा इन यादों के पंछियों के रूप में पेश किया गया है ।

आत्मकथा की शुरुआत प्रल्हाद के अनाथ जीवन के परिचय से होती है, “बचपन में ही मेरे माता-पिता गुजर गए थे इसी कारण बड़ी बहन मुझे अपने यहाँ ले गई थी ।”[16] इस अनाथपन का एहसास प्रल्हाद के समग्र व्यवहार में दिखाई देता है। प्रल्हाद घर के अनेक काम करके दीदी पर पड़े अपने पालन का बोझ हलका करना चाहता है । साथ ही गाँव में भी वह अनेकों के मन में अपने व्यवहार के कारण करुणा उत्पन्न कराता है । एक तरफ यह अनाथ जीवन की वेदना तो दूसरी तरफ भूख, दारिद्रय, अस्पृश्यता, अस्वच्छता से लड़ते हुए शिक्षा की लालसा पूरी आत्मकथा में दिखती है । लेखक लिखते हैं- “किसी तरह मैंने मैट्रिक किया । कभी घास छीलकर, कभी किसी का दुकान लीपकर, कभी गोबर सानी करके, कभी आम के पेड़ों की रखवाली करके, कभी मूंगफली और कभी कपास बीनकर; कभी इमली के फूल इकट्ठा करके, कभी रोटी माँगकर; कभी पत्तल बनाकर, कभी लकड़ियाँ फाड़कर, कभी मरे हुए जानवरों की खबर देकर तो कभी किसी सवर्ण की बहू को उसके मैके से लाने का काम करके मैं मैट्रिक में उत्तीर्ण हुआ ।”[17] इन समग्र वेदनाओं को सहने के बावजूद भी आत्मकथाकार कहीं पर भी संताप एवं विद्रोह का मार्ग नहीं अपनाता । सहज रूप से अपने शोषित-पीड़ित बालमन को अभिव्यक्त करता है । वह यह जवाब देता है कि, ‘घर के बाहर ही क्यों न हो पर मुझे रोटी तो दी ।’ यह कृतज्ञता लेखक के स्वभाव के साथ उस समाज की मानसिकता का अहसास कराता है, जो प्रल्हाद जैसे अनेक प्रल्हाद के निर्माण में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहभागी हैं ।

'भूख' दलित समाज के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप बनकर सामने आती दिखाई देती है । दलित भूख को मिटाने के लिए किस तरह मजबूर थे इसको स्पष्ट करते हुए गुलाबराव हाडे लिखते हैं- "जातीय अभिशाप से ग्रस्त महार-मांग आदि अस्पृश्यों के जीवन का यह यथार्थ ही था कि भूख की चिरंतन-समस्या का फौरी(तत्काल) समाधान पाने की बेबसी में मृत जानवरों के मांस का सेवन एक आम बात थी ।"[18] यादों के पंछी में यह आशय अनेकानेक बार भिन्न-भिन्न प्रयोगों के माध्यम से आया है । इसी भूख से बेहाल प्रल्हाद कुत्ते के मुंह से शिकार छीनने की कोशिश में घायल हो जाता है । प्र.ई. सोनकाम्बले ने इस संदर्भ लिखा है – "उसके मुंह में लटकती हुई चीज देखकर मेरे मुंह में पानी आ गया ।"[19] यहाँ पर यह कहकर लेखक अपनी न थमनेवाली भूख का परिचय देते हैं । आत्मकथा में समाज का प्रतिनिधित्व प्रल्हाद करता है । ऐसे प्रल्हाद दलित समाज में अनेक हैं जो जूठन, मरे हुए जानवरों का मांस, जुआर के भुट्टे एवं वनस्पतियों के पत्ते, बीज खाकर जीते हैं । वे दलित आत्मकथाओं में दिखाई देते हैं । वे उपेक्षा, अपमान, बेबसी भी सहते हैं । प्रल्हाद गंगाबाई (सवर्ण स्त्री) के आंगन में मरकर सड़े हुए कुत्ते को 'एक चौथाई रोटी' के टुकडे पर उठाता है । काम होने पर गंगाबाई की बहू आँखें तरेरती हुई कहती है – "ये अछूत मेहनताना भी लेते हैं और फिर रोटी भी मांगते हैं । चल, निकल यहाँ से । काफी अपमानित होकर वह टुकड़ा लिए

मैं वहाँ से निकला ।”[20] इस अमानवीय परिस्थिति को सोनकाम्बले ने बिना तिरस्कार के आंतरिक छटपटाहट को दबाकर अभिव्यक्त किया है ।

‘अस्पृश्यता’ यह भारतीय समाज-व्यवस्था ने दलित समाज को दिया हुआ अभिशाप है । ‘यादों के पंछी’ में इस वेदना के प्रति मूक आक्रोश है । प्रल्हाद को जानवर जिस चेलमा में पानी पीने की वजह से- “अबे भोसड़ी के तुझे पता नहीं कि यह चेलमा सवर्णों का है ?”[21]- जैसी गालियाँ सहनी पड़ती हैं । अस्पृश्यों को वे जानवरों से भी बत्तर समझते हैं । भीख माँगने जाय तो दूर से ही ‘जोहार माय-बाप’ की आवाज देनी पड़ती है,ताकि सवर्ण समझे कि कोई अस्पृश्य सामने आ रहा है । यह अस्पृश्यता सामाजिक स्तर पर दलितों को पशुहीनता प्रदान करते हैं । जिसे ‘यादों के पंछी’ के साथ-साथ अन्य दलित आत्मकथाएँ भी अभिव्यक्त करती हैं । यह अस्पृश्यता प्रल्हाद को प्रतिष्ठित व्यक्ति बनने के बाद भी ऊंट की सवारी और ब्राह्मण शिक्षक के ‘हुरडा’ खाने वाले प्रसंगों में अपने सामाजिक अमानवीय स्थिति का बोध कराती है और साथ ही आत्मकथा के पाठकों को एक स्पृश्य दलित एवं अस्पृश्य दलित की वेदनाओं के वैषम्य का बोध भी कराती है । जाति से स्पृश्य दलित माली कहता है – “दीवान जी,आप कुछ भी कहिए, यह पल्ला भले ही पढ़-लिखकर बड़ा हो जाए तो भी सवर्णों की पंक्ति में इसे नहीं बिठलाना चाहिए । यह घातक है, उसके लिए भी और हम सबके लिए भी । उसे अपनी जाति के अनुसार जीना चाहिए ।”[22] यहीं है दोनों का वैषम्य, एक आर्थिक दृष्टि से

दलित होने की वजह से दूसरों के यहाँ काम करता है, पर सामाजिक दृष्टि से उसका स्तर सवर्णों के स्तर का है, तो दूसरा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होकर भी हमेशा सामाजिक दृष्टि से दलित ही है और यही दृष्टि मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद की दलित दृष्टि को स्पष्ट करती है। एक आर्थिक दलित्व मिटाने के पक्ष में है, तो दूसरा सामाजिक । डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर को आर्थिक विषमता से ज्यादा सामाजिक विषमता की फ़िक्र थी । डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर सामाजिक विषमता को मिटाकर समतामूलक समाज की स्थापना की अपेक्षा रखते थे। इन्हीं विचारों की माँग यहाँ पर प्र.ई.सोनकाम्बले ने अप्रत्यक्ष रूप से की है। इस आत्मकथा में लेखक ने किसी भी व्यक्ति के प्रति रोष, विद्रोह प्रत्यक्ष रूप से नहीं जाहिर नहीं किया है। बल्कि जिन व्यक्तियों ने उन्हें सहयोग दिया है उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट किया है। जिनमें गाँव के पाटिल भीमराव बापू, विनायकराव गुरूजी, पीलिया होने पर बोर्डिंग में बिना छौंक की दाल निकालकर देनेवाली गंगामाय, सुभाबाई, भालकरी तिरमुखराव पाटिल आदि का समावेश है।

आत्मकथा के 25, 26, 27 वे प्रकरण में दलित आन्दोलन की गतिविधियाँ और म.ना. वानखेड़े के व्यक्तित्व एवं कार्य से प्रभावित होकर विभूतिपूजा का भाव स्पष्ट हुआ है। साथ ही डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के कार्यों पर भी आत्मकथा में प्रकाश डाला गया है। जो इस तरह से है- “लोगों ने कहा औरंगाबाद चले जाओ आगे पढ़ने के लिए वहाँ काफी सुविधाएँ हैं।

दलितों के उन्नायक डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने वहाँ कॉलेज खोल रखा है । खास दलितों के लिए ।”[23]

‘यादों के पंछी’ में महाराष्ट्र कर्नाटक सीमा के पास वाले अहमदपुर-उदगीर-लातूर और औरंगाबाद का प्रादेशिक परिवेश चित्रित हुआ है । वहां के खेत, नदियाँ, पहाड़, फ़सल, पानी, सामाजिक जीवन, संस्कृति, अंधश्रद्धा, लोकरूढ़ी, लोकव्यवहार, मुहावरे, लोकविश्वास, भाषा, बोली विशेष की शब्दावली आदि अपनी विशेषताओं के साथ अवतरित हुए है ।

तराल-अंतराल-शंकरराव खरात

‘तराल-अंतराल’ शंकरराव खरात की आत्मकथा है । इस आत्मकथा में शंकरराव खरात के जीवन अनुभवों के साठ वर्षों का प्रदीर्घ समय आया है । जो तीन भागों में स्पष्ट दिखाई देता है । पहला प्राथमिक शिक्षा का, दूसरा मैट्रिक तक के शिक्षा का और तीसरा डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के उप-कुलपति पद पर आसन होने तक का । यह आत्मकथा शंकरराव खरात के जीवन के इन कालखंडों को कलात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत करती है ।

प्रथम भाग में आटापाडी गाँव के दलित जीवन का चित्रण आया है, द्वितीय में ओंध की स्मृतियों का हिस्सा आता है, तो तीसरे भाग में शंकरराव के तीस-पैंतीस साल का जीवन आता है । लेखक ने इसे स्वयं की आत्मकथा न कहकर अछूतों की जीवन गाथा कहा है, वे लिखते हैं – “मेरा यह प्रयत्न रहा है

कि 'तराल-अंतराल' शंकरराव की आत्मकथा न होकर 'स्टोरी ऑफ़ दी अनटचेबल' महारों(अछूतों) की जीवनगाथा के रूप में समझी जाये ।"[24] लेखक का यह सामाजिक आत्मकथा मानने का प्रयत्न यशस्वी दिखाई देता है । मराठवाडा के महारों ने एवं स्वयं लेखक ने जो भोगा है वह आत्मकथा में अभिव्यक्त हुआ है ।

यह आत्मकथा 286 पृष्ठों में फैली हुई है और सत्तावन शीर्षकों में विभाजित है। इसमें विशेष ध्यान खींचने वाले संवेदनशील शीर्षकों में पत्र, जूठन, मैंने कफ़न के कपडे पहने, नाई महारों के बाल नहीं काटता, रोटियाँ अपवित्र होती हैं, लुटेरों की छुआछूत, महारों के पनघट पर हड्डियों का झंडा, सूरज निकलना अभी शेष है आदि का समावेश है ।

यह आत्मकथा एक संघर्षशील समुदाय की गाथा है । जिनको जाति के नाम पर हजारों सालों से मूलभूत अधिकारों से वंचित रखा गया है । इस आत्मकथा के संदर्भ में डॉ. यशवंत मनोहर लिखते है – "तराल-अंतराल यह जाति व्यवस्था के कारण झुलसे हुए जीवन की मृत्युगाथा है । यहाँ का मानव जाति को छोड़ता नहीं और जाति यहाँ के मानव को छोड़ती नहीं । जात छुपाने से भी और वर्चस्ववादी होने पर भी नहीं छूटती ।"[25]

आत्मकथा में भारतीय समाज व्यवस्था में अवर्ण, निम्न, अस्पृश्य जातियों पर थोपे गए अतिशूद्र कार्यों का विवरणात्मक परिचय मिलता है । लेखक लिखते हैं- "गावकी का अर्थ है, महारों के गले हमेशा पड़ा हुआ फांसी

का फंदा ।"[26] और "तरालकी का अर्थ है महारगीरी का 'लास्ट प्रमोशन' एकदम सबसे अंत का पद ।"[27] इस गावकी, तरालकी में महारों को अनेकानेक काम करने पड़ते हैं । लकड़ी फाड़ने से लेकर, "यदि गाँव में ऊपर का कोई अधिकारी, हाकिम आये तो तराल को भी महार के साथ टहल-चाकरी करने के लिए रहना पड़ता है.....गाँव में कोई दुर्घटना हो गयी या कोई अपराध हो गया; उसकी जाँच-पड़ताल के लिए थानेदार-हवालदार आते हैं, तो उनकी मदद करने के लिए तराल और महार को उनके साथ रहना पड़ता है ।"[28] इसी व्यवस्था के कारण लेखक के पिता 'रामा' को कुँए से मुर्दा निकालना पड़ता है, लेखक को नीम के पेड़ से लाश उतारनी पड़ती है, रात को गस्त लगाने जैसे काम करने पड़ते हैं । इन समग्र परिस्थितियों पर आत्मकथा में प्रकाश डाला गया है और उस शोषण की दास्तान को अत्यंत संवेदनशीलता से आत्मकथा में प्रस्तुत किया गया है ।

आत्मकथा में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों एवं कार्यों के कारण आये परिवर्तन का भी जिक्र हुआ है । -हम भी इन्सान हैं हमें भी अधिकार और हक्क चाहिए- की भावना उनमें जागृत हुई है । शंकरराव खरात आत्मकथा में लिखते हैं – "महार लोग मरे हुए पशु का मांस खाते हैं, इसलिए तुम उन्हें छूते नहीं । छुआछूत मानते हो । उन्होंने मृत मांस खाना छोड़ दिया, छुआछूत से छुटकारा पाने का मार्ग स्वीकार लिया । इसमें क्या बुरा किया ? और फिर मरे जानवरों को उठाकर महार ही क्यों ले जाएँ ? मुर्दों को जलाने

के लिए कंडे-उपले या लकड़ियाँ महार क्यों जुटाए ? इसलिए की यह रूढ़ परम्परा युगों-युगों से चली आ रही है । लेकिन यह रूढ़ परम्परा महारों ने बंद कर दी तो क्या बुरा किया ? पुराने रीति-रिवाज, रूढ़ी –परम्पराएँ बंद होनी चाहिए, तभी तो समाज प्रगति करेगा ।”[29] लेखक ने सामाजिक प्रगति के लिए आड़े आने वाली रूढ़ी,परम्पराओं को बंद करने की बात की है । चूँकि इन्हीं रूढ़ी,परम्पराओं के कारण दलितों का शोषण होता है ।

इस आत्मकथा में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों को –जो शंकरराव खरात ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किये थे- इस प्रकार प्रस्तुत किया है - “डॉ.अम्बेडकर हमेशा कहा करते थे – बिना आग में तपे मनुष्य शुद्ध नहीं होता, उसकी शक्ति का वर्द्धन नहीं होता । इसलिए पददलित मानव को ऊँचा उठने के लिए त्याग और कष्टों की अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ेगा । इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ।”[30] यहाँ पर प्रत्यक्ष डॉ.बाबासाहेब के शब्द न होकर उनको आत्मसात करके किया हुआ यह विधान है ।

शकारराव खरात को अस्पृश्यता एवं विषमता का पहला पाठ पाठशाला के प्रथम पाठ के साथ ही मिला, जब “मास्टर ने फिर गरजती आवाज में मुझसे कहा ये महार के ! नीचे बैठ और ध्यान रख पाठशाला है महारवाडा नहीं ।”[31] छुआछूत की समस्या से आत्मकथा के अनेक पन्ने भरे पड़े हैं, जिसे महार समुदाय को भोगना पड़ता है ।

आत्मकथा में आनेवाले पात्र या व्यक्तिरेखाएँ अपने व्यक्तिगत स्वभाव की विशेषताओं के साथ आते हैं । उनके दैनिक जीवन व्यवहार, श्रद्धा-अंधश्रद्धा,रूढ़ी-परम्परा, लोक संस्कृति आदि पर आत्मकथा में प्रकाश डाला गया है । आत्मकथा में विशेष ध्यान खींचने वाले पात्रों में रामा, साबुबाई, सोपान, शेवंता, शकुंतला, डॉ.केलकर, दादा पाटिल, कुलकर्णी मास्तर, कर्मवीर भाऊराव पाटिल, अन्ना देशपांडे आदि प्रमुख हैं।

आत्मकथा में प्रयुक्त भाषा दो रूपों में दिखाई देती है । संवाद बोलीभाषा में है, तो निवेदन साहित्यिक भाषा में । मुहावरों, कहावतों के साथ गाली-गलोज की भाषा का रूप यहाँ पर देखने को मिलता है । तत्कालीन महारों की भाषा का एवं परिवेशगत भाषा का परिचय भी यहाँ पर देखने को मिलता है ।

उचक्का(उचल्या)-लक्ष्मण गायकवाड :-

'उचक्का' यह घुमंतू दलित जनजातियों के सामाजिक कार्यकर्ता लक्ष्मण गायकवाड की आत्मकथा है । 'उचक्का' का मतलब चोर होता है । जो चलते-चलते भी किसी का कुछ सामान उठा सकता है, ऐसा कहा जाता है । इसके अंतर्गत भामटा, टकारी, पाथरूट, घंटीचोर, कामटी,पारधी आदि का समावेश है । ये लोग महाराष्ट्र के बाहर भी हैं । इन लोगों के चोरी करने की मज़बूरी को लक्ष्मण गायकवाड स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "रोजी-रोटी के सभी साधन और मार्ग हमारे लिए बंद कर दिए गए और इस कारण चोरी करके जीना ही

एक मात्र उपाय हमारे सम्मुख शेष रह गया। हम पर थोपे गए चोरी के इस व्यवसाय का उपयोग ऊपरवालों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किया।"[32]

आत्मकथा में अंग्रेज सरकार ने जन्मजात गुनहगार का ठप्पा लगाए 'पाथरूट' (पत्थर तोड़नेवाले) की व्यथा, वेदना, पुलिसियाँ अत्याचार, दारिद्रय, अस्वच्छता, अस्पृश्यता, भूक, जात पंचायत एवं पाथरूट समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, दैववाद, लोकप्रथा आदि का सूक्ष्म पद्धति से विवरण दिया है।

उचक्का लेखक के 15 अगस्त, 26 जनवरी जैसे राष्ट्रीय समारोह पर स्कूल में भाषण देने से कामगार संगठन का नेतृत्व एवं विधान सभा निर्वाचन के उमेदवार के रूप में प्रस्थापित होने तक की यात्रा को यहाँ पर प्रस्तुत किया है।

यह आत्मकथा एक ऐसे समूह के अन्याय-अत्याचार की महागाथा है, जिसे न कोई अपना गाँव है, न खेत है, न कोई घर। ये लोग अपना पेट भरने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव घूमते रहते हैं। इन्हें गाँव छोड़ते वक्त गाँव के पुलिस पाटिल से प्रमाण-पत्र लेना पड़ता है। इस संदर्भ में लेखक लेखक लिखते हैं – "किसी जानवर को अगर कहीं बेचना हो या एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाना हो तो जैसे उसके लिए प्रमाण-पत्र लेना पड़ता है और ऐसे प्रमाण-पत्र के बगैर उस जानवर का सौदा नहीं होता ठीक उस जानवर की तरह हमारी बिरादरी का हाल था।"[33] उनकी स्त्रियों का अपमान किया जाता

है । एक जगह तीन दिन से ज्यादा नहीं रह सकते, कहीं चोरी होने पर सबसे पहले पुलिस पाथरूटों की बस्ती पर पहुंचते हैं और उन्हें बेतहाशा पिटा जाता है । ऐसे समाज का वास्तव चित्रण इस आत्मकथा में हुआ है ।

जहाँ एक ओर हमारे भारतीय चिंतन-मनन की लंबी परम्परा बच्चों को देश की संपत्ति मानकर उसके और देश के भविष्य को सुचारू एवं विकसित बनाने की बात करती हैं वही दूसरी ओर ऐसा समाज भी है जहाँ बच्चों को भीख मांगने, चोरी करने का प्रशिक्षण दिया जाता है । उचक्का में ऐसे ही संवेदनशील, ह्रदयस्पर्शी एवं विचारोत्तेजक प्रसंग आए हैं । लक्ष्मण गायकवाड लिखते हैं – "उन्होंने तेरी आँखों में मिर्च डाल दी थी न और इसलिए तूने हमारे नाम बताए न ? यह पूछते हुए तुकाराम ने रोटी पर रखी मिर्च की पावडर उठाई और दादा की गुदा तथा आँखों में डाल दी ।[34]" इस तरह के पारिवारिक परिवेश में इनके बच्चे बड़े होते हैं। बचपन से बच्चों को सिखाया जाता है कि चोरी कैसे की जाय, जब पुलिस चोरी करते हुए पकड़े तो कभी भी अपने साथियों का नाम नहीं बताना है, चाहे पुलिस कितना भी मारे लेकिन अपनी जुबान नहीं खोलनी आदि ।

अन्य दलित आत्मकथाकारों की तरह ही लक्ष्मण गायकवाड के परिवार एवं समाज को भी भूख की वेदना सहनी पड़ी है । लक्ष्मण गायकवाड का परिवार दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिन गुड के उबाले हुए पानी पर बसर करता है । भूख मिटाने के लिए इमली के बीज, आम की गुठलियाँ, जूठन, चूहें-

बिल्ली, सूअर, नेवला, गीदड़, बगुला, कछुआ, गोह, केकड़ें, गिलहरी आदि को अपना खाद्य बनाते हैं ।

आत्मकथा में चित्रित अस्पृश्यता, अशिक्षा, अस्वच्छता एवं दारिद्र्य के प्रसंग विशेष ध्यान खींचते हैं, जिससे पाथरूट समाज के सामाजिक, आर्थिक शोषण की यथार्थ स्थिति सामने आती है । लक्ष्मण गायकवाड को अस्पृश्यता के अनुभवों को स्कूली जीवन में ही भोगना पड़ा और 'लक्ष्मण ताता केंकड़े खाता', 'पाथरूट का लक्ष्या' आदि उपेक्षाओं से भी गुजरना पड़ा । शिक्षा से ये समाज अनभिज्ञ है । बेटे के हाथ में कलम देनेवाले मार्तंड को यह तक मालूम नहीं कि कलम कॉपी पर लिखने के लिए होती है । वह लक्ष्मण को कॉपी ख़राब क्यों की कहकर मारता है । लक्ष्मण गायकवाड का यह शिक्षा संघर्ष नॉन मैट्रिक तक ही चला बाद में लेखक को शिक्षा छोड़कर लातूर, औरंगाबाद की सूत मिल में काम करना पड़ा ।

आत्मकथा में पाथरूट समाज में व्याप्त अस्वच्छता एवं दारिद्र्य पर भी प्रकाश डाला गया है । लेखक लिखते हैं – "मुझे ही क्यों, घर में किसी के लिए भी नए कपडे कभी आए नहीं । आते भी कहाँ से ? सभी चोरी के होते.....हमारा घर बहुत ही छोटा था । उसमें सभी लोग चीलर(ज्यू) की तरह भरे रहते । एक ही छप्पर के नीचे बकरियाँ भी बांधी जाती और आदमी-औरतें भी सोते.....बकरियाँ पास बंधी रहती । रात में पेशाब करती । उनकी पेशाब ठीक मेरे नीचे फैलती .....जाड़े से परेशान मैं सोचता कि बकरियाँ

लगातार गरम पेशाब करती रहें, ताकि ठण्ड न लगे ।"[35] बाद में पेशाब के कारण बदबू मारती चादर न धोकर उसे सिर्फ धूप में सुखाकर ओढ़ने के लिए फिर से लेना पड़ता था । कभी-कभी उस चादर पर ज्यूएँ भी रेंगती थी । यह स्थिति केवल लक्ष्मण गायकवाड के परिवार की नहीं थी अपितु पूरे पाथरूट समाज की थी।

आत्मकथा में चोरी के चार प्रकार बताए गए हैं । पहला, खिस्तंग मतने(जेब कतरे), दूसरा, चप्पल मुठ्ठल(चप्पल अथवा गठरी चोर), तीसरा, पड्डु घालने(चतुराई से सामने वाले को बेवकूफ बनाकर उसका माल ऐंठना), चौथा, उठेवारी(बातचीत करते-करते किसी को फँसाना) । आत्मकथा में इन चार प्रकारों से चोरी करने के लिए पाथरूट समाज पंढरपुर, तुलजापुर, अम्बेजोगाई, लातूर आदि जगहों पर जाते हैं । चोरी करने के अनेक प्रसंग इस आत्मकथा में आये हैं ।

'उचक्का' में अनेक दैववादी, अन्धविश्वासी, शोषित, पीड़ित जीवन बिताने वाले व्यक्तिरेखाएं उभरती हैं । स्वयं लेखक, चोरी करने की अपेक्षा दूसरों की गुलामी करने वाला मार्तंड, मिरगी आने वाला हरचंद्या, लक्ष्मण का पारिवारिक जीवन बिगाड़ने का प्रयास करने वाली भाभी, चोरियों का शिक्षण देने वाला संतराम, चोरी में माहिर यलम्मा, पद्मिनी को फंसाने वाला माणिक दादा एवं आर्थिक, मानसिक सहयोग देनेवाली पत्नी आदि व्यक्ति अपने स्वभावगत विशेषताओं के साथ आत्मकथा में प्रकट होते हैं ।

आत्मकथा में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, निवेदनात्मक, संवादनात्मक, चित्रात्मक आदि विभिन्न शैलियों का प्रयोग दिखाई देता है । आत्मकथा की भाषा सरल-सहज रूप में है लेकिन कहीं-कहीं तेलुगु भाषा के शब्द भी आये हैं – जो की लेखक की मात्रभाषा है । मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग भी यहाँ पर हुआ है ।

पराया (उपरा)- लक्ष्मण माने :-

पराया यह कैकाड़ी (घुमन्तू) जाति में जन्में मराठी दलित लेखक, समाजसेवक लक्ष्मण माने की आत्मकथा है । यह आत्मकथा महाराष्ट्र के घुमंतू कैकाड़ी जाति के जीवन की दयनीय अवस्था का परिचय देती है । लक्ष्मण माने जितने लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं, उससे भी ज्यादा समाज सेवक के रूप में परिचित हैं । इन्होंने कुछ काल तक विधायक के रूप में विधान परिषद् में भी कार्य किया है ।

यह आत्मकथा दलित अस्पृश्यों से भी ख़राब जीवन जीने वालों की और पेट भरने के लिए गधों पर संसार लादकर दर-दर भटकने वालों की हृदयस्पर्शी कहानी है । यह आत्मकथा दो प्रभागों में दिखाई देती है । प्रथम में नायक का शिक्षा संघर्ष, परिवार का सामजिक आर्थिक संघर्ष, तो द्वितीय में ग्रामीण जीवन वहां के लोगों का अज्ञान, दारिद्रय, अंधश्रद्धा, लोकजीवन एवं नायक का दोस्तों की सहायता लेना, नौकरी करते हुए प्रेमविवाह करके गृहस्थी की बागड़ोर सँभालते हुए एक कार्यकर्ता की यात्रा है ।

आत्मकथा में लक्ष्मण माने अपना एवं अपने समाज का जीवन प्रवास बड़ी तटस्थता से रखते हैं । सामाजिक विषमता, अनिष्ठ रूढ़ी-परम्परा, पीड़ित स्त्री जीवन, जात पंचायत एवं सवर्ण समाज की मानसिकता एवं नीति को बड़ी संवेदनशीलता के साथ चित्रित करते हैं । लेखक के पिता जब लक्ष्मण को स्कूल में दाखिला कराने ले जाते हैं; तो मास्टर कहता है – "अरे, भिकारियों के लिए भी कहीं स्कूल होता है ? अरे, उसको पढ़ाने के बाद टोकरियाँ कौण तैयार करेगा ? यह सब नहीं चलेगा बड़े आये पढ़ानेवाले ।"[36]

'पराया' में अभिव्यक्त स्त्री प्रतिमाएँ शोषित, पीड़ित, श्रमशील व्यक्तित्व का परिचय देती हैं । स्त्रियों को सभी अधिकारों से वंचित रखने की बात हिन्दू परम्परा का ही एक हिस्सा है, ऐसा लेखक का मानना है । इस समाज में हिन्दू धर्म की परम्परा का पूरा प्रभाव है, जिसके कारण स्त्रियों पर अन्याय-अत्याचार होता रहता है । लेखक के मारुती मामा की पत्नी पारू मामी अपने रूप सौन्दर्य के कारण बलात्कार का शिकार बनती है । परिणामस्वरूप उसे आगे का जीवन निराश्रित होकर बिताना पड़ता है । इस समाज की धारणा है कि "हम लोग, कहीं भी रहने वाले .....भिकारी.....पतिव्रता-सी रहना चाहिए । नौटंकी की नाचानिया-से नाज-नखरे नहीं करना चाहिए ।"[37] इस समाज में सुन्दर स्त्री को सजने-सवरने को बंधन है। उसे भिखमंगों की तरह ही रहना पड़ता था । अतः इन स्त्रियों का जीवन भूख और भीख में फंसा दिखाई देता है ।

लक्ष्मण माने ने बड़ी तटस्थता से कैकाडी जाति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्रण किया है । समाज की परम्परा, रोटी-बेटी का व्यवहार को भी पाठकों के सामने रखा है । लेखक मराठा समाज की लड़की शशि से प्रेमविवाह करते हैं; ईस पर लक्ष्मण माने की माँ कहती है – "अरे, पैदा होते ही क्यों नहीं मर गया ? हमारी नाक काट डाली.....हमें जाति-बिरादरी से उठा दिया ।"[38] लक्ष्मण माने की पत्नी जाति बाह्य होने के कारण उनपर सामाजिक बहिष्कार डाला जाता है । पर इसमें से मार्ग निकालने के लिए जात पंचायत शशि को गोद लेकर फिर कैकाड़ी समाज में सम्मेलित करते हैं । आत्मकथा में जातिगत ऊँच-नीच की भावना भी दिखाई देती है । कैकाड़ी गाँव छोड़ते वक्त यह ध्यान रखते है कि सूरज निकलने से पहले निकलना है, ताकि कोई महार रास्ता न काटे । महार रास्ता काटे तो वे उसको अपशकुन समझते हैं । अपनी जाति का उनको गर्व होता है, इसलिए उनकी मानसिकता ऐसी बनी हुई है । उनका कहना है "जाति के लिए माटी भी खानी पड़े तो तैयार रहना चाहिए.....जाति के बिना सब बेकार है ।"[39] इस व्यवस्था पर लेखक आक्रोश व्यक्त करता है पर व्यवस्था के सामने वह भी लाचार-सा दिखाई देता है । कैकाड़ी समाज के व्यवसाय पर भी यह आत्मकथा प्रकाश डालती है । यह समाज गाँव-गाँव में जाकर टोकरियाँ, कंडे, कनग्या आदि बनाकर बेचता है, और बदले में बासी खाने की याचना करता है । जब वे किसी गाँव में जाते हैं तो पहले उन्हें वहाँ के पाटिल के घर हाजिर होकर व्यक्ति, गधे, मुर्गियो की संख्या की जानकारी देनी पड़ती है । और

श्मशान भूमि में अपना अड्डा बनाना पड़ता है । इसलिए डॉ. यशवंत मनोहर ने कैकाडियों की तुलना ज्यूँ लोगों से की है ।

'पराया' में निवेदन एवं संवादों के माध्यम से कैकाड़ी समाज की भाषिक शब्दावली से भी पाठक का परिचय कराया है । कहावतों एवं मुहावरों से एक नई चेतना इस आत्मकथा में आई है । इस आत्मकथा में संवाद और निवेदन के अलावा वर्णात्मक, विवेचनात्मक शैलियों का प्रयोग भी दिखाई देता है ।

जीवन हमारा-बेबी काम्बले :-

'जीवन हमारा' यह मराठी दलित लेखिका बेबी काम्बले की आत्मकथा है । यह आत्मकथा लेखिका कम समाज की ज्यादा है । दलित समाज अस्पृश्यता, भूख, अवहेलना सहकर भी किस तरह अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज, रूढी-परम्परा आदि झूठे आवरण के नीचे जीवन जीने में अपनी नियति एवं धन्यता मानता है, जिस पर आत्मकथा में चिंतन हुआ है । सुनीता साखरे इस आत्मकथा के संदर्भ में लिखती हैं – "जीवन हमारा में जिस जीवन का चित्रण है उसकी वास्तविकता इतनी भीषण और बीभत्स है कि उनके चित्रों से गुजरता हुआ पाठक बेचैनी और संत्रास अनुभव करता है । इस आत्मकथा को पढ़ना महाराष्ट्र के डोम समाज को ही नहीं; वरन समस्त पददलित जातियों के हाहाकार और विलाप को अपने रक्त में बजा हुआ अनुभव करता है ।"[40]

आत्मकथा में विवेचनात्मक, विवरणात्मक पद्धति से महार समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं आंदोलनों के स्थितियों का पचास सालों का आलेख है ।

'जीवन हमारा' यह दलित विमर्श के साथ-साथ स्त्री विमर्श की भी आत्मकथा है । आत्मकथा में स्त्रियों पर होने वाले अन्याय-अत्याचार का खाका खोला गया है। कच्ची उम्र में जब सात-आठ साल की लड़की ससुराल में आती है, तो उसे अनेक अग्नि परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है । सास-ससुर, देवर-ननद, पति की गालियों के साथ मार भी खाना पड़ता है । सास तो इस की तलाश में रहती है कि कब उसे मौका मिलता है । वह गली-गली, मुहल्लों में जाकर बहू की बुराई करती है । यहाँ पर हम सास का बहू के प्रति व्यवहार देख सकते हैं – "गाल को उमेठते हुए कहती- 'अरे तेरी माँ घर संभालती है या कुम्हार के गधे चराती है ।"[41]

बहू सयानी होने पर सास इस ताक में ही रहती है कि बेटा और बहू एक दूसरे से ज्यादा मिल न पाए । वह बहू को मुंह-अँधेरे में ही उठाती ढेर सारा अनाज पिसवाती, बहू के संबंध में अनाप-शनाप बाते कहकर बेटे को बहकाती, इतना ही नहीं चुडियां तोड़कर रोटियों में मिलाती और उसका दोष बहू पर डालती थी । यह सब न सहने के कारण बहू पीहर भाग जाती वहां भी उसे माँ-बाप से गालियाँ ही मिलती थी । बहू पुनः न भाग जाए इसलिए बहू के पैरों में पांच किलो वजन के लकड़ी का 'खोड़ा' पहनाया जाता था ।

जिसके कारण उसके पैर लहू-लुहान हो जाते थे । इतने पर भी सास अपने बेटे को उकसाकर उसे कुलटा साबित कर उसकी नाक कटवाती, वह अपने बेटे से कहती "इसका नाक काट दे धोंडू.....तभी मेरी आत्मा को शांति मिलेगी । बाप का नाम ऊंचा कर......हिजड़ा मत बन...... देख, सर सलामत है तो पगड़ियाँ हजार ।"[42] लेखिका लिखती है – "हमारे समय में सौ में से एक औरत की नाक कटी हुई होती थी ।"[43] इस अन्याय अत्याचार को दूर करने वाले डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के प्रति लेखिका आत्मकथा में कृतज्ञता व्यक्त करती है – "उस बेडी के टुकड़े-टुकड़े कर अबला को मुक्त किया 'हिन्दू कोड बिल' ने, इस कोड बिल को बनाया विश्वकर्ता, दुःखहर्ता, नीति पुत्र भीमराव अम्बेडकर ने ।"[44] आत्मकथा में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों के कारण आये परिवर्तन एवं दलित आन्दोलन की गतिविधियों का चित्रण हुआ है । इस आत्मकथा के हिंदी अनुवाद की भूमिका में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं – "जीवन हमारा में दलित समाज की केवल यातना की ही कहानी नहीं है, उसके जागरण की भी कथा है । इसमें दलितों का जीवन संघर्ष ही नहीं; उनकी मुक्ति संघर्ष की प्रेरणा और प्रारंभ की कहानी भी है ।"[45]

इस आत्मकथा में डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर को भगवान एवं दलितों को रोशनी देनेवाले सूर्य के रूप में देखकर कृतज्ञता व्यक्त हुई है । लेकिन स्वयं डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर व्यक्ति पूजा के विरोधी थे । बेबी काम्बले यहाँ पर भक्त ज्यादा अनुयायी कम दिखाई देती हैं । वे लिखती हैं – "हमारे बच्चे इतने

नालायक निकलेंगे, यह कभी सोचा नहीं था। हमने परजीवी पैदा किये। अब हमारे नेता भी भ्रष्ट हो गए हैं। अगर आज भीमदेव न होते तो हम लोग पड़े होते किसी टूटी-फूटी झोंपड़ी में और अन्न के लिए जंगलों में भटक रहे होते। पेट की आग बुझाने के लिए मरे जानवर खा रहे होते। एक हाथभर की लंगोटी पहने किसी झोपड़ी में सड़ रहे होते।"[46] यहाँ मौका परस्त नेताओं एवं दलितों को अहसास दिलाया की कोशिश की गयी है कि तुम बहुत बुरी स्थिति से यहाँ तक पहुंचे हुए हो। लेकिन यहाँ पर एक ही दिक्कत है कि डॉ.बाबासाहेब को भीमदेव कहा गया है, जब कि डॉ. बाबासाहेब ने इस देवता वाले मिथक से अपने अनुयायिओं को दूर रहने के लिए कहा था।

आत्मकथा में महारों के सांस्कृतिक जीवन क अतिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। मरिमाँ की यात्रा के समय समाज में छानेवाला उत्साह, स्त्रियों का सुध-बुध खोकर नहाने का वर्णन, बेटे को पोतराज बनाने की विधि, विवाह, गालियाँ, रुकवत उठाने की विधि क विवेचन विस्तृत रूप में देखने को मिलता है। आत्मकथा में भूत-पिशाच, टोना-टोटका, मरिमाँ, लमाण-पठान, अग्या-बेताल जैसे सूर-असुर समझे जाने वालों का शरीर में संचार होना आम बात के रूप में चित्रित हुआ है। मरिमाँ की यात्रा में तो एक के बाद दूसरी, तीसरी, चौथी के शरीर में इनका संचार होने का वर्णन है। आत्मकथा में दंतकथाओं के साथ नसीब लिखनेवाली सटवी जैसे मिथकों के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है।

आत्मकथा में कहीं पर भी विद्रोह एवं बदले की भावना दिखाई नहीं देती । आत्मकथा की भाषा सहज-सरल बोधगम्य है । जिसको कहावतों, मुहावरों का भी समावेश है । प्रसंगवर्णन की सूक्ष्मता के कारण पाठक उबने लगता है ।

अक्करमाशी - शरणकुमार लिम्बाले :-

'अक्करमाशी' यह मराठी दलित लेखक, आलोचक शरणकुमार लिम्बाले की आत्मकथा है । 'अक्करमाशी' यह केवल शरणकुमार लिम्बाले की ही आत्मकथा नहीं है वह उनकी माँ, भाई-बहन, मौल्या, परश्या, महमूद दस्तगीर जमादार एवं दोगलेपन का जीवन जीने वाले समस्त 'अक्करमाशी' कौम के साथ हुए सामाजिक अन्याय-अत्याचार एवं बलात्कार की कहानी है । लेखक लिखते हैं – "यह कथा मेरी, व्यथा माँ की, आत्मकथा एक समाज की । अक्करमाशी जितना मेरा व्यक्तिगत जीवन है उतना ही वह जनरल वार्ड है ।"47

अक्करमाशी में अपनी माँ मसाई के उद्ध्वस्त जीवन को लेखक ने बड़ी तटस्थता के साथ रेखांकित किया है । मसा माँ का विवाह विठ्ठल काम्बले के साथ होता है । उससे उसे (भानुदास, चंद्या और लक्ष्या) तीन बेटे होते हैं । परिस्थिति का मारा विठ्ठल काम्बले हनमंता लिम्बाले के यहाँ नौकर होता है । हनमंता लिम्बाले की नजर शरणकुमार लिम्बाले की माँ मसाई पर थी और

वह मसाई के संबंध में गाँव में अनैतिकता की हवा कर देता है । परिणामस्वरूप विट्ठल काम्बले मसाई को छोड़ देता है । मसाई से उसके बच्चे छोड़ने का निर्णय गाँव पंचायत देती है । इसी मसाई को हनमंता लिम्बाले अपनी रखेल बनाकर रखता है । “जैसे कोई शोक से कबूतर पालता है ।”[48] यहाँ से शुरू होती है उसकी और उसके बच्चों की त्रासदी । सवर्ण हनमंता लिम्बाले और मसाई के सम्बन्धों से लेखक का जन्म होता है । जिसका दावित्व न स्वीकार कर हनमंता लिम्बाले मसाई को छोड़ देता है । और शरणकुमार के नाम के आगे अपना नाम लगाने का भी विरोध करता है । आगे मसाई हन्नुर गाँव के यशवंतराव पटेल की रखेल बनती है और उसके सम्बन्धों से आठ-नो बच्चों को जन्म देती है, जिनकी त्रासदी को भी आत्मकथा में अभिव्यक्ति मिली है । अपनी माँ के संबंध में लेखक लिखते हैं – “वह आधी माँ है तथा आधी पटेल की बाई है ।”[49] यह व्यथा केवल मसाई की ही नहीं तो संतामाय, चंद्रामाय, कोंडामाय, नागी आदि सवर्णों द्वारा शिकार बनी स्त्री जाति की समस्या है । ये स्त्रियाँ अस्पृश्य दलित स्त्रियाँ हैं, जो एक ओर स्त्री होने का अभिशाप पुरुष प्रधान संस्कृति से भोगती है तो दूसरी ओर जाति से अस्पृश्य एवं दलित होने से समग्र सवर्ण समाज का और तीसरी ओर उनका दुःख किसी की रखेल होने का है । ये स्त्रियाँ कामवासना की भूख से किसी की रखेल नहीं बनी बल्कि पेट की भूक ने इन्हें इस स्थिति में पहुँचा दिया है । अक्करमाशी आत्मकथा से प्रभावित होकर जयप्रकाश कर्दम ने ‘अक्करमाशी’ नाम की कविता लिखी है - “अपनी माँ के कुकर्मों के कारण / नहीं हूँ मैं

अक्करमाशी / मैं उसकी विवशता का परिणाम हूँ / पाटिल की औलाद होकर भी / बाप से बेनाम हूँ ।"[50] इस आत्मकथा के संदर्भ में एक सीधी सी बात है कि एक बेसहारा और मजबूर दलित स्त्री का बलात्कार हुआ था । इसके लिए तथाकथित मुख्यधारा का समाज ही जिम्मेदार है ।

लेखक का बचपन जिस परिवेश में गुजरा है उसका चित्रण आत्मकथा में हुआ है । लेखक का बचपन संतामाय के साथ ढोर चराते, अपमान सहते बिता। मसाई ने ने दारू का धंदा शुरू किया था, उसमें शराबी शराब के नशेमें गालियाँ देते थे, प्याला लेते समय कामवासना से हाथ को स्पर्श करते थे, इस तरह के परिवेश में जीवन बिताते समय लेखक ने शराब पी, चोरी की । ऐसी समग्र स्थितियों को बड़ी तटस्थता से आत्मकथा में रखा गया है और इस समस्त व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है । शरणकुमार लिम्बाले अपने जाति विहीन होने का परिचय इस प्रकार देते हैं – "मेरी माँ अछूत तो पिता सवर्ण । माँ झोपड़ी में पिता कोठी में, पिता जमींदार, माँ भूमिहीन । और मैं ? अक्करमाशी ।"[51] लेखक ने इस आत्मकथा में सवालों की झड़ी लगाई है । जिसका उत्तर समाज व्यवस्था के पास नहीं है । जारज पुत्र की वेदना की चीख समस्त समाज के माँ-बाप के सम्बन्धों पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देती है, शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं – "क्या प्रत्येक व्यक्ति इस बात की गारंटी दे सकता है कि वह अपने ही कथित बाप का बेटा है ? किसने देखा है अपनी

बीज धारणा को ? किसने देखा है अपने जन्म के पूर्व ही माँ के संभोग को ?”[52]

अक्करमाशी में लेखक को सामाजिक व्यवस्था के कारण मिलने वाले अपमान विशेषणों(?) में धेड का बच्चा, नाजायज औलाद, रंडी का बेटा आदि का समावेश है। जिसके कारण ही लेखक रूढ़ी, परम्परा ,धर्म, कर्म आदि पर प्रश्न चिन्ह लगाता है और इन सब के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करता है ।

दलितों के जीवन में भूख सबसे बड़ी समस्या है । अक्करमाशी में संतामाय जानवरों के गोबर में से निकली ज्वार खाती है, मसामाय जूठन को अमृत कहती है । चूँकि स्थिति यह थी कि उनको कभी भर पेट खाना ही नहीं मिला था । सवर्ण लोग इन्हें देना भी नहीं चाहते थे । इसीलिए उनको मरे हुए जानवरों का मांस भी खाना पड़ता था । शरणकुमार लिम्बाले पेट को श्मशान भूमि एवं कुँए का उपमान देते हुए कहते हैं - “पेट तो श्मशान भूमि की तरह है, कितना भी मुर्दे जलाते रहो उसे और मुर्दे चाहिए । माँ चिढ़कर कहती थी तेरा पेट है कि कुँआ ! टोकरी क्यों नहीं बांध लेता मुंह पर ?”[53] इसी रोटी पर लेखक ने अपने चिन्तनशील विचार रखते हुए रोटी को आकाश, चंद्र, सूर्य से भी बढ़कर माना है ।

आत्मकथा में सवर्ण-दलित अस्पृश्यता एवं जातिगत दलित-दलित अस्पृश्यता के भी उद्धरण मिलते हैं । साथ ही आत्मकथा में दलितों की श्रद्धा-अंधश्रद्धा, लोकजीवन, लोकसंस्कृति, लोककथा, लोकरूढ़ी, मुहावरों,

कहावतों एवं मराठवाडा विश्वविद्यालय के नामांतर आन्दोलन का परिचय भी मिलता है ।

अक्करमाशी आत्मकथा की भाषा अक्रोशमय एवं विद्रोहात्मक है । इस आत्मकथा में प्रमुखता से प्रश्नात्मक शैली का प्रयोग हुआ है । साथ ही निवेदन एवं संवादात्मक शिली का भी प्रयोग हुआ है । यह आत्मकथा शरणकुमार लिम्बाले के ग्राम्य जीवन को जितनी प्रखरता से प्रकट करती है उतनी शैक्षणिक जीवन को नहीं । अतः इस आत्मकथा में लेखक ने अपने जीवन के पच्चीस साल का इतिहास या लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है ।

छोरा कोल्हाटी का (कोल्ह्याटयाचं पोर)- किशोर शांताबाई काले :-

'छोरा कोल्हाटी का' यह आत्मकथा किशोर शांताबाई काले की है । यह आत्मकथा माँ और बेटे के वात्सल्य वियोग की एक करुण कहानी है । इसके साथ ही यह आत्मकथा कोल्हाटी समाज की नाचनेवाली स्त्रियों की मर्मांतक व्यथा है । कोल्हाटी समाज की स्त्री की व्यथा के बारे में किशोर जी लिखते हैं – "कोल्हाटी समाज की नाचनेवालियों की ज्यादातर संतानों को न बाप का सहारा मिलता है, न माँ का । दूध पीते बच्चे को अपने माँ-बाप के पास छोड़कर, उनकी घर-गृहस्थी चलाने के लिए वे गाँव-गाँव शहर-शहर नाचती फिरती हैं । बच्चे को वह साथ रख नहीं सकती, क्योंकि बाल बच्चेदार नाचनेवाली को लोग पसंद नहीं करते । नाचनेवाली के सीने में जो माँ का दिल धड़कता रहता है, वह क्या ऐसे ही मर जाता है ?"[54] बिलकुल ही नहीं

मरता होगा लेकिन मज़बूरी में उनको ऐसा करना पड़ता है । कभी-कभी तो स्तन से लगे बच्चे को दूर कर, बीमार बच्चे को दूसरे के हवाले कर उन्हें चेहरे पर मेकअप और मुस्कुराहट लिए स्टेज पर दर्शकों का दिल बहलाना पड़ता है ।कोल्हाटी समाज में स्त्री का सुंदर रूप ही उसके लिए अभिशाप है । क्योंकि सुंदर स्त्रियों को नाचना-गाना पड़ता है । किशोर की माँ(शांताबाई) शिक्षिका बनना चाहती थी लेकिन कोंडिबा(किशोर के दादा) कोल्हाटी उसको नाचने के लिए मजबूर कर देता है ।

शांताबाई पर मोहित होकर करमाला के कांग्रेस विधायक नामदेवराव जगताप उसका 'चिरा' उतार देते हैं, इसी चिरा की रस्म से किशोर का जन्म होता है। चिरा उतारने की परम्परा महाराष्ट्र में बहुत पुरानी है । जब कोल्हाटी समाज की बालिका जवान होती तब उसके साथ प्रथम संभोग करने के लिए उसकी भरी महफ़िल में बोली लगाई जाती है । जो भी ज्यादा पैसा देगा उसके साथ या उसकी रखेल बनकर उसको रहना पड़ता है । इसी 'चिरा' वाली प्रथा से किशोर का जन्म होता है। कुछ दिनों के बाद नामदेवराव जगताप शांताबाई को छोड़ देता है । उसके बाद शांताबाई के जीवन में धारुरकर नाम का व्यक्ति आता है । जिसके संबंधों से किशोर के भाई दीपक का जन्म होता है । इस धारुरकर के अनाकलनीय मृत्यु के बाद शांताबाई के जीवन में आनेवाले तीसरे और अंतिम व्यक्ति सोनपेठ के सावकार कृष्णराव वडकर(नाना) आते हैं । जिनके साथ वह अनेक प्रकार के कष्ट सहकर और आदर्श पत्नी बनकर जीवन यापन करती है । शांताबाई को इतने लम्बे सफर में

बहुत सी परेशानियों का सामना करना पड़ा है । किशोर पढाई करते हुए छुट्टियों में कभी-कभी मौसियों की पार्टियों के साथ जाता था । वहां घटित होनेवाले प्रसंगों से आहत होने का अहसास आत्मकथा में अनेक पन्नों पर उपस्थित है । किशोर को जीवनभर नाजायज औलाद, रखैल का बेटा आदि बातों से अपमानित होना पड़ा है । सातवी के बाद किशोर की शिक्षा माँ के पास सोनपेठ में हुई, ग्यारहवीं-बारहवीं अम्बेजोगाई के 'योगेश्वरी महाविद्यालय' में हुई और एम.बी.बी.एस. मुंबई में ।

आत्मकथा की भाषा साहित्यिक है । इसमें वैद्यकीय पेशे से संबंधित शब्दों का प्रयोग हुआ है । आत्मकथा में निवेदनात्मक एवं संवादात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। इस आत्मकथा में विद्रोह की भावना तीव्रता से नहीं दिखाई देती।

मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठने- माधव कोंडविलकर :-

माधव कोंडविलकर ने अपनी इस आत्मकथा में महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश में रहनेवाले चमारों के समाज जीवन एवं लोकजीवन का चित्रण किया है । 'देवाचे गोठने' लेखक के गाँव का नाम है । यह आत्मकथा लेखक के आठ सालों के सुख, दुखात्मक आवेगों का परिचय कराती है । यह डायरी शैली में लिखी आत्मकथा है, 17 नवम्बर 1967 के घटना प्रसंगों से शुरू होकर 2 फरवरी 1977 तक जीवन अनुभवों को अभिव्यक्त करती है ।

आत्मकथा में समाज में व्याप्त उंच-नीच, अस्पृश्यता, अज्ञान, व्यसनाधीनता आदि के प्रति क्षोभ प्रकट किया गया है । अस्पृश्यता के कारण होनेवाली पीड़ा और उसका बालपन पर होने वाले प्रभाव का चित्रण इस आत्मकथा में हुआ है । अस्पृश्यता के संदर्भ में लेखक लिखते हैं – “बचपन में गाँव के रास्ते चलने लगे तो गांववाले कहते, बच्चे उस तरफ हो ! हमें स्पर्श मत कर ! दुकान पर जाने के बाद वाणी चिल्लाकर कहता, ये बच्चे पैसे ऊपर से डाल ! नहीं तो मैं अपवित्र हो जाउँगा । पनघट पर जाने पर सवर्णों की स्त्रियाँ कहती, बच्चे पानी दूर उस नीचेवाले तरफ से भर ! यहाँ मत आ हमें छूत लग जाएगी ।”[55] इस पीड़ा से भी बढ़कर अस्पृश्यता की पीड़ा उन्हें अध्यापकीय जीवन में उस समय होती है जब उन्हें पता चलता है कि स्कूल छूटने के बाद बच्चे नाले पर नहाते हैं, क्योंकि उन्हें पढ़ाने वाले मास्टर एक अस्पृश्य हैं । ऐसे प्रसंगों के कारण लेखक का मन दुखी हो जाता है ।

सवर्ण समाज की यह मानसिकता बनी हुई है कि दलितों का जीवन हमारे जीवन पर आधारित है, इसलिए उनको हमारे सभी काम करने चाहिए । जबकि वास्तविकता यह है कि दलितों के जीवन पर इनका जीवन आधारित है । माधव गोंडविलकर के गाँव के सवर्ण भी यही चाहते हैं कि लेखक भी उनके काम करें । लेखक के पिता भी यहीं चाहते हैं। अपनी इस व्यथा को वाणी देने के लिए लेखक ‘एक अस्पृश्य शिक्षक की कथा और व्यथा’ शीर्षक से समाचार पत्र में अपना आलेख छापते हैं, तब गाँव वाले चिढ़ जाते हैं । इस

बात से चिंतित लेखक की माँ लेखक से कहती है – "उनके आसरे पर अपनी जिनगानी ! कल उन्होंने अपनी मल्नी मुठ बंद कर दी तो अपून खावेंगे क्या ?"[56] इस उद्धरण से दलितों के जीवन पर स्थापित मनुवादी सामाजिक संरचना का प्रभाव स्पष्ट होता है । इस आत्मकथा में जातिगत मतभेद भी हैं, जैसे नाई चमार के बाल नहीं काटता, चमार डोम, महार, मांग के यहाँ पानी नहीं पिता आदि का वर्णन हुआ है । लेकिन लेखक ने इस आत्मकथा में जातिगत अस्पृश्यता, उंच-नीच के भावों की भी ख़बर ली है ।

आत्मकथा में व्यसनाधीनता के शिकार चमार समाज का विशेष रूप से चित्रण किया गया है । इस व्यसनाधीनता के कारण ही चमार दारिद्रय, गुलामगिरी, अन्याय एवं शोषण के शिकार होते हैं । स्त्रियाँ भी इस व्यसनाधीनता की शिकार बनती हैं । जैसे, प्रसूति के समय जच्चा को शराब पिलाने का वर्णन आत्मकथा में आया है । लेखक के नारू मामा का भी इस व्यसनाधीनता के शिकार होने के कारण भरी जवानी में मृत्यु हुआ था । साथ ही चमार स्त्रियों को अपने शराबी पति से कई बार मार भी खानी पड़ती है । इस तरह की सामाजिक वास्तविकता यह आत्मकथा हमारे सामने लाती है ।

माधव कोंडविलकर ने सिर्फ 'देवाचे गोठने' इस गाँव के प्रतिनिधि बनकर नहीं बल्कि सम्पूर्ण महाराष्ट्र के चमार जाति के सांस्कृतिक जीवन का चित्रण इस आत्मकथा में किया है । चमारों में प्रचलित रूढ़ी, परम्परा एवं अंधविश्वास में फंसे जनजीवन का इस आत्मकथा में चित्रण हुआ है । इस

संदर्भ में मराठी दलित साहित्य के लेखक, इतिहासकार म. सु. पगारे लिखते हैं – "गौरी(लक्ष्मी) को मांस का नैवद्य देना, शरीर पर से उडोद-नारियल उतारना, निम्बू उतारने विधवा का होना, विवाह समारंभ में दूल्हे की ओर से दुल्हन की ओर के लोगों को पच्चीस नारियल, पच्चीस सेर चावल, एक किलो मीठा तेल, दस खजूर और दस बादाम देना अनिष्ठ प्रथाओं, रूढ़ियों का कोई भी शास्त्रीय आधार नहीं है । पहले ही शिक्षा की अधोगति, दारिद्रय के कारण पेट कैसा भरा जाए, इसकी चिंता एवं पेट के लिए संघर्षरत चमार समाज आत्मकथा में उन्होंने खड़ा किया है ।"[57]

दलित समाज सदियों से शिक्षा से वंचित रहा है । जबकि संविधान ने शिक्षा का मूलभूत अधिकार दलितों को दिया है तब भी सवर्ण समाज दलितों को पुराने कामकाज करने के लिए ही मजबूर करता है और शिक्षा से दूर रखना चाहता है । इस आत्मकथा में एक सवर्ण शिक्षक कहता है – "अपना धंदा हर एक को सीखना ही चाहिए, कल ब्राह्मणों ने पोथी-पुराण सीखना छोड़ दिया तो दूसरे कौन सीखेंगे, तेली-ताम्बोली वह क्यों पढ़े । जिसका काम उसे आना ही चाहिए, नहीं तो आज सभी को लगने लगा है कि हम भी स्कूल जाए और बैरिस्टर बने ।"[58] ऐसे जब सवर्ण ब्राह्मण वक्तव्य करता है तब साहजिक है कि दलित समुदाय के अशिक्षित नागरिक यह कहते हैं कि "सभी को सीखकर क्या करना है ।"[59] यह तो लेखक के पिता कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गाँव के सवर्ण किस तरह से दलित समाज को अपने

ब्राह्मणवादी सोच से गुमराह करते हैं । इन स्थितियों को लेकर लेखक विद्रोह करते हैं । यहाँ तक कि इसके कारण लेखक का अपने परिवार के साथ भी नहीं पटता है ।

आत्मकथा में आनेवाली व्यक्तिरेखाएँ अपने मूल स्वाभागत विशेषताओं के साथ अवतरित होती हैं। अस्तित्व के लिए संघर्षरत लेखक, उनके माता-पिता, पत्नी-उषा, भाई तुकाराम आदि के साथ समाज के शोषण से बेहाल अनेक परिवार एवं व्यक्ति आत्मकथा में आते हैं । इस आत्मकथा की यह विशेषता भी है कि अपने परिवार के साथ-साथ अनेक परिवारों का भी एक साथ चित्रण करती है ।

यह आत्मकथा ऐसे अनेक शब्दों, मुहावरों एवं कहावतों से परिचित कराती है, जो महाराष्ट्रीय चमार एवं अन्य समाज जीवन से संबंधित है । यह आत्मकथा दैनंदिनी (डायरी) के रूप में होने की वजह से कल्पना एवं विस्मरण के विस्तार के भय से दूर रही । परिणामस्वरूप यह आत्मकथा वास्तविक जीवन का प्रभाव छोड़ने में सफल हुई है ।

बेरड-भीमराव गस्ती :-

यह भीमराव गस्ती की आत्मकथा है । 'बेरड' आत्मकथा दो भागों में विभाजित है । प्रथम में बेरड जाति का सांस्कृतिक, धार्मिक जीवन एवं लेखक का शैक्षणिक जीवन है । दूसरे भाग में सामाजिक शोषण, जात-पंचायत, विभिन्न संगठन एवं आंदोलनों की गतिविधियों का समावेश है । इस

आत्मकथा में विमुक्त जनजाति की वास्तविक कहानी है । विमुक्त जन जातियों का इतिहास बताता है कि किस तरह कागज का एक टुकड़ा अनगिनत समुदायों और हजारों-हजार लोगों के भाग्य को अगले सौ सालों के लिए बदल सकता है । कागज का यह टुकड़ा था अपराधिक जनजाति अधिनियम, 1871 जिसके द्वारा भारत की कुछ जन-जातियों को पुश्तैनी रूप में वर्गीत किया गया, और उनके सब सदस्यों को(नए पैदा होने वालों समेत) उस जनजाति में जन्म लेने मात्र के आधार पर अपराधी घोषित कर दिया । इस अधिनियम का बोझ ये जनजातियाँ आज तक ढो रही हैं । इन्हीं जनजातियों में से भीमराव गस्ती एक है ।

यह आत्मकथा महाराष्ट्र-कर्नाटक के सीमावर्ती बेलगाँव एवं आसपास के यमनापुर, दुड्डी, काकती,धनट्टीचिलदिनी आदि में बेरड समाज पर होने वाले अत्याचारों पर आधारित है । यह बेरड समाज खुद को वाल्मीकि का वंशज मानकर चलता है । छत्रपति शिवाजी महाराज के राज-काज तक और पेशवाओं के कार्यकाल तक इन लोगों को ईमानदार और स्वामिनिष्ठ माना जाता था । लेकिन फिर अंग्रेज काल में पैदायशी गुनहगार माना गया चूँकि वे अंग्रेजों के खिलाफ थे । अंग्रेजों ने अधिनियम बनाकर लिखित रूप से इन लोगों को पैदायशी गुनहगार साबित किया । जिसकी सजा आज भी यह बेरड समाज के लोग भुगत रहे हैं। जब भी कोई चोरी होती है तब सबसे पहले बेरड टोले पर पुलिस की जीप पहुँच जाती है । पुलिस बेरड समाज के सिर्फ पुरुषों को ही नहीं स्त्रियों को भी नंगा करके पिटते हैं । यही कारण है कि जब

भीमराव गस्ती स्कूल में जाते हैं तब उनके मास्टर पूछते है, “तू बेरड जाति का है न?”[60] फिर मास्तट कहता है कि फिर तो तेरा बाप चोरी ही करता होगा । स्कूल में एक बार पूछा गया कि कौन क्या बनना चाहता है तब कोई कहता मैं इंजीनियर, कोई कहता डॉक्टर बनूँगा लेकिन जब भीमराव गस्ती की बारी आती है तब क्लास के बच्चे कहने लगते हैं कि गस्त्या चोर बनेगा । इस तरह से भीमराव गस्ती का स्कूल में अपमान होता रहता है । मतलब लेखक के कुछ कहने से पहले ही समाज के बच्चों की यह मानसिकता बनाई गयी है कि जो जिस जाति-जनजाति में पैदा हुआ है वह उसी जाति-जनजाति का काम करेगा। बेरड समाज में यह मानसिकता बनी हुई है कि शिक्षा सिर्फ उच्च वर्ण के लोगों के लिए है । उनका कहना है कि “ आपण को कायके वास्ते चैए शाला-वाला ? आपण का छोरा लिखा पढ़ी करके मास्टर थोड़े इ बननेवाला है ?”[61] ऐसा मानने वालों की संख्या बेरड समाज में बहुत बड़ी है और वे अपने नशीब और पिछले जन्म को इसका जिम्मेदार मानते हैं । भीमराव गस्ती ने इस तरह के प्रतिकूल स्थिति में हैदराबाद से एम.एस.सी. रसायनशास्त्र में पोस्ट ग्रजुएट की उपाधि हासिल की । इसी समय में भीमराव गस्ती का डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों से और महारों के नवजीवन से परिचय हुआ और उन्होंने ने अपने समाज में परिवर्तन के लिए प्रयास शुरू किये । जिसके लिए उन्होंने अपनी नौकरी तक छोड़ी और समाज को जागृत करने का काम किया ।

इस आत्मकथा में बेरड समाज के सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है । सांस्कृतिक कार्यकर्मों में होली, दशहरा जैसे त्योहारों का वर्णन हुआ है । साथ ही सर्पदंश पर वनस्पति के पत्ते लगाना, अभुआना जैसी अंधश्रद्धा, देवदासी, बाल विवाह, विधवा विवाह विरोध जैसी अनिष्ठ प्रथाएँ भी हैं । यह समाज गणेश उत्सव नहीं मनाता, इनमें लोकविश्वास है कि गणेश ने इन्हें इस शापित जीवन का शाप दिया है । बेरड समाज सवर्ण समाज से अपना अलग अस्तित्व सिद्ध करता है, जिसका परिचय यह आत्मकथा देती है ।

आत्मकथा में अनेक व्यक्तिरेखाएँ अपने यथार्थ रूप में स्पष्ट हुई हैं । जिनमें हमेशा कष्ट करने वाली एवं मानसिक आधार देनी वाली पत्नी कमली, जात-पंचायत के आतंक से भयभीत बेटे के प्राणों की भीख मांगने वाले पिता, संपादक, मित्र, शंकरराव खरात, मयत यलप्पा, कर्नाटक के मुख्यमंत्री, मिल व्यवस्थापक, रामदास आठवले आदि का समावेश है ।

आत्मकथा की भाषा साहित्यिक है । कुछ जगह संवादों के लिए एवं भाषा को पात्रानुकूल बनाने के लिए बेरडों की भाषिक बोलियों का प्रयोग हुआ है, जैसे “नक्को रे बाबा नक्को ! नोकर-चाकर बिलकुल नक्को ।”[62] आत्मकथा में ‘मिटयामेट हो जाना’, ‘कन्नी काटना’, ‘पसीना-पसीना होना’ आदि मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग हुआ है। साथ ही विभिन्न भाषायों के शब्द

भी आत्मकथा में दिखाई देते हैं, जैसे क्रिसमस, नोटबुक, दीगर, स्कूल, रंजो-गम, लेबर, अफसर आदि ।

आत्मकथा में प्रसंगों एवं घटनाओं के वर्णन में इतिवृत्तात्मकता दिखाई देती है, जिसके कारण आत्मकथा 406 पन्नों तक पहुँच गयी है । इसी इतिवृत्तात्मकता के कारण आत्मकथा को पढ़ते समय पाठक उब जाता है ।

असीम है आसमाँ (आमचा बाप आणि आम्ही) - डॉ.नरेन्द्र दामोदर जाधव

'असीम है आसमां' नरेंद्र जाधव की आत्मकथा है । इस आत्मकथा की रचना प्रक्रिया की बात बहुत ही रोचक एवं मजेदार है । लेखक के पिता दामोदर जाधव को सन 1960 में नौकरी से अवकाश प्राप्ति के बाद काफी फ्री समय मिलता था और अपनी मूल प्रवृत्ति के कारण घर की टूटी-फूटी चीजों के साथ अच्छी चीजों की भी वे मरम्मत करते रहते थे । उनके इस अनचाहे उद्योग को रोकने के लिए लेखक ने एक युक्ति सोची और अपने पिता को अपनी जीवन कहानी अपने शब्दों में लिखने के लिए तैयार किया । लेखक के पिता ने अपने जीवन की कहानी लिखी जो 1948 तक पहुंची, उसके बाद

लेखक के पिता की मृत्यु हुई । अपने पिता के अनुभवों की सामग्री को नरेन्द्र जाधव ने स्रोत के रूप में अपनाकर आगे की कहानी लिखी । वे लिखते है – "1989 में अपने पिताजी के देहावसन के बाद मैंने उनकी कच्ची-पक्की, संगत-असंगत डायरियों को दोबारा सिलसिला देना आरंभ किया । इसमें उनके लेखे-जोखें के साथ संबंधियों की यादें भी थी । उन डायरियों में मेरी अनपढ़ माँ, उच्चशिक्षा से सम्पन्न मेरे बड़े भाई, मेरी बहने और मेरी भाभियों से जुड़ी रोचक घटनाएँ और सच्ची बातें थी ।"[63]

'असीम है आसमाँ' यह एक व्यक्ति की, एक पीढ़ी की आत्मकथा नहीं है बल्कि इसमें तीन व्यक्ति एवं तीन पीढ़ी की जीवन कहानी है । इसे आत्मकथा लेखन में एक नया प्रयोग समझना चाहिए । यही कारण है यह आत्मकथा दलित आत्मकथाओं में अपना एक अलग स्थान रखती है । इस आत्मकथा में एक परिवार की तीन पीढ़ियों के संघर्ष की कथा है । वह परिवार सामाजिक अन्याय-अत्याचार, अस्पृश्यता से संघर्ष करते हुए सम्पन्नता, उल्हास एवं सम्मान प्राप्त करते हैं । इन पीढ़ियों में पहली पीढ़ी है दामोदर रूजांजी जाधव की, दूसरी है नरेन्द्र जाधव की और तीसरी है अपूर्वा नरेंद्र जाधव की । इनके साथ ही यह आत्मकथा डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर की जीवनी भी है, जिसको नरेन्द्र जाधव के पिता ने लिखा है । आत्मकथा में तत्कालीन दलित आन्दोलन की गतिविधियों का लेखा-जोखा और आँखों देखा हाल दामोदर जाधव के माध्यम से पाठकों तक पहुँचता है । डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा चलाये

गए महाड के मीठे पानी का आन्दोलन, नाशिक के कालाराम मंदिर प्रवेश का आन्दोलन, 1932 का पूना पैक्ट, 1936 की 'हिन्दू के रूप में जन्मा पर हिन्दू के रूप में न मरने की धर्मांतर घोषणा', 1956 का धर्म परिवर्तन का समारोह आदि डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर के जीवन प्रसगों को आत्मकथा अभिव्यक्त करती है । इसके साथ-साथ यह आत्मकथा डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा दिए गए मंत्र शिक्षा, संगठन और संघर्ष का अमल करती दिखाई देती है ।

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर की प्रेरणा से ही दामोदर जाधव के मन में अपने बेटों को पढ़ाने-लिखाने की लालसा पैदा होती है । इस संदर्भ में डॉ. यशवंत मनोहर लिखते हैं – "अम्बेडकरी प्रेरणा का युगंधर विजय यह कहानी बताती है । इस कथा का बाप खुद सेतु बना है और बाबासाहेब के प्रेरणा की आग इसी सेतु से बच्चों तक पहुँचायी है । पिता ने बच्चों को अध्ययन का टॉनिक दिया ।"[64]

आत्मकथा का केन्द्रीय चरित्र या नायक दामू अर्थात लेखक के पिता दामोदर रूजांजी जाधव हैं । जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने का काम स्वयं उनकी पत्नी सोनू और उनके बेटे ध्रुवा(नरेंद्र) करते हैं । उसमें दामू के स्वभागत विशेषताओं एवं विचार प्रकट होते हैं । दामू के विचार से हर काम लगन से करना चाहिए, ता कि उसको अव्वल दर्जे पर पहुँचा दे । दामू के शब्दों में "मुझे बस इतना ही कहना है तू जो भी करे सबसे अव्वल दर्जे का कर । तू चोर बनना चाहता है, कोई बात नहीं । तो खूब बढ़िया-अव्वल

चोर बन ताकि लोग तुझे सलाम करें । दुनिया तुझे देखे और कहे- वाह ! क्या चोर है । क्या दिमाग पाया है ।"[65] इससे दामू के महत्वकांक्षी स्वभाव एवं मेहनती वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है ।

1929 में जी.आई.पी. में हड़ताल होने से दामोदर को रेल्वे की नौकरी चली जाती है । उनके अपने गाँव आना पड़ता है । उसी समय उनके परिवार पर यस्करकी(गाँव में रात में गस्त देना और सवर्णों के सभी प्रकार के काम करने वाले को 'यस्कर' कहते हैं ।) काम आता है। लेकिन दामोदर जाधव महाड के मीठे तालाब के सत्याग्रह में शामिल थे और उन्होंने समानता, स्वतंत्रता जैसे मानवीय मूल्यों को ग्रहण किया था । इसलिए गाँव के कुँए में एक महिला की सड़ी लाश को निकालने के हुक्म को दामोदर नकार देता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे पुलिस अधिकारी जानवरों जैसा पीटते हैं । तब दामू का विद्रोह फूट पड़ता है, "अरे तुम साहब कहलाने के काबिल नहीं हो । सच तो यह है कि तुम इन्सान कहलाने के भी लायक नहीं हो । मुझे शक होता है तुम जैसे पशु जनने के लिए तुम्हारी माँ ने आदमी नहीं जानवर अपने सीने पर लिया होगा ।" और उसी अधमरी अवस्था में दामोदर अपने सगे संबंधियों एवं परम्परा का बोझ ढ़ोने वाले समाज को छोड़कर मुंबई का रास्ता अपनाते हैं ।

आत्मकथा का दूसरा प्रमुख चरित्र लेखक की माँ सोनू का है । जिसे लेखक 'बाई' के नाम से पुकारते हैं । 'बाई' पर हिन्दू धर्म की परम्परा का

काफी प्रभाव दिखाई देता है । धर्म परिवर्तन के समय अपने पति का विरोध करती है, बाद में डॉ.बाबासाहेब के विचारों से प्रभावित होकर धर्म परिवर्तन करती है । वह हिन्दू और बौद्ध संस्कृति को एक साथ लेकर चलती है । पति और अपने विचारों एवं रंग-रूप में विरोधाभास होकर भी अंत तक सफल जीवन बिताती है । पति के साथ वह भी जीवन संघर्षों का सामना करती है । दुकान चलाकर परिवार का आर्थिक बोझ उठाती है । वह संवेदनशील एवं वात्सल्यमय है ।

आत्मकथा का प्रमुख तीसरा चरित्र स्वयं लेखक नरेंद्र जाधव है, जो आत्मकथा के उत्तरार्ध में आता है । नरेंद्र जाधव को घर सभी सदस्य 'धुरवा' नाम से पुकारते हैं। धुरवा का स्कूली जीवन मराठी माध्यम से शुरू होकर 'रिजर्व बैंक ऑफ़ इंडिया' के प्रधान सलाहगार और एक अर्थशास्त्री के रूप में स्थापित होता है । जब नरेंद्र जाधव अपनी शिक्षा के लिए अमरीका जाते हैं तब उनकी बुद्धिमत्ता एवं शोध लगन को देखकर 'सर्वश्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय छात्र' पुरस्कार भी दिया जाता है । अमरीका से ही वे अर्थशात्र में पी-एच.डी. की उपाधि हासिल करते हैं । इसके साथ ही पढाई करते समय उनको होनी वाली परेशानियों का वर्णन इस आत्मकथा में आया है ।

आत्मकथा का 'उपसंहार' तीसरी पीढ़ी का परिचय कराता है, जो अपने बूते पर अस्पृश्यता, नीचता को मिटाकर ऊपर उठते दिखाई देते हैं । जिसका प्रतिनिधित्व लेखक की बेटी 'अपूर्वा' करती है । आत्मकथा में लेखक ने अपूर्वा

के माध्यम से बड़ी प्रमाणिकता से बात की है कि अपने परवरिश में हिन्दू और बौद्ध दोनों संस्कृतियों का समन्वय है । आत्मकथा में अपूर्वा कहती है –"मेरे दो धर्म थे यह विचित्र बात लग सकती है । मगर मेरे पिता बौद्ध है और मेरी माँ हिन्दू है । इसलिए मेरे पिता के परिवार में खास अवसरों पर हम बौद्ध मंत्रों का जाप करते थे । मेरे ख़याल में वे संस्कृत में थे । ....हिन्दू त्योहारों के अवसर पर सारे लोग भजन कीर्तन करते हैं ।"[66] इससे एक बात तो स्पस्ट होती है कि नरेंद्र जाधव के घर में हिन्दू और बौद्ध धर्म का समन्वय था या दोनों धर्म का समान रूप से पालन किया जा रहा था ।

यह आत्मकथा एक ऐसे परिवार की कहानी है, जो सभी सदस्यों को अपने बलबूते पर सफलता हासिल करने की बात कहती है । यह परिवार दामू की बहन, चार बेटे, दो बेटियाँ एवं उन्नीस पोते-पोतियों का है । जिसमें लेखक के बड़े भाई जनार्धन जाधव कलेक्टर एवं भारत सरकार के प्रधान सलाहगार रहे हैं तो खुद लेखक एक अर्थशास्त्री, उपकुलपति एवं नियोजन आयोग के सदस्य रहे हैं । इस आत्मकथा में चित्रित परिवेश 1927 से 1990 तक का है ।

आत्मकथा मुखतः 'मैं' शैली में या प्रथम पुरुष में लिखी गयी है लेकिन प्रसंग वर्णन एवं निवेदनों के लिए द्वितीय पुरुष एवं अन्य पुरुष का भी प्रयोग किया गया है। इसमें साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है । यह आत्मकथा

एक अर्थशास्त्री की होने के कारण अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बड़ी मात्रा में हुआ है ।

आयदान-उर्मिला पवार

'आयदान' उर्मिला पवार की आत्मकथा है । उर्मिला पवार मराठी कथा साहित्य में स्त्री अभिव्यक्ति के रूप में एक महत्वपूर्ण उपस्थिति हैं । उर्मिला पवार का दलित स्त्रीवाद पर किया गया काम बहुत महत्वपूर्ण है । उर्मिला जी ने दलित स्त्री के अनेक एजेण्डे इन्होंने उठाए है । दलित स्त्री के विभिन्न मुद्दों तथा बाबा साहेव के साथ शामिल हुई दलित महिलाओं और उनके योगदान पर मीनाक्षी मून के साथ लिखी गई उनकी किताब 'हमने भी इतिहास घडाया'(आम्ही पण इतिहास घडवला) है। यह किताब बेहद अमूल्य है, पर उर्मिला जी लेखिका के साथ-साथ बहुत प्रसिद्ध महिला एक्टिविस्ट भी है । खैरलांजी में हुए दलित महिलाओं के बलात्कार के बाद की गई उनकी हत्या के विरोध में सशक्त आंदोलन चलाने में उर्मिला जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इस घटना के दौरान किए गए विरोध स्वरूप वह अन्य महिला साथियों के साथ जेल भी गई थी । उर्मिला पवार एक सशक्त लेखिका है और आजकल उनकी आत्मकथा 'आयदान' चर्चा में है । उर्मिला जी पिछले 40 साल से दलित महिला आंदोलन से जुड़ी हुई है ।

आयदान में कोंकण के रत्नागिरी और फनसावली (लेखिका का गाँव) की भाषा, संस्कृति एवं जीवन ही मुख्य रूप से सामने आता है , आगे फिर मुंबई

और वहां की झोपड़पट्टी का वर्णन आता है । जिसमें उर्मिला पवार का संघर्षमय जीवन व्यतीत हुआ है । आयदान आत्मकथा के शीर्षक के बारे में उर्मिला पवार लिखती हैं – "आयदान प्लैस्टिक युग आने से पहले हमारे संसार में बाम्बू से तैयार किए हुए डलिया, खंचिया, छोटा टोकरा, खांचा इत्यादि वस्तुओं का महत्व था । इन वस्तुओं का सामान्य रूप 'आयदान' है ।"[67]

उर्मिला पवार जब स्कूल जाती तब अछूत होने के कारण हेरलेकर गुरूजी उसको स्कूल के काम करवाते हैं, वे उर्मिला को कहते हैं - "ब्लैक बोर्ड पोछ दो, कोने में पड़ा कचरा बाहर फेंक दो ।"[68] सिर्फ अपनी अछूत जाति होने कारण उर्मिला पवार को स्कूल में कचरा उठाना, गोबर उठाना, ब्लैक बोर्ड साफ करना आदि काम करने पड़ते हैं । इतिहास बताता है कि दलित श्रम करने में कभी पीछे नहीं हटे लेकिन उनको वही काम दिया गया जिसको करने में तथाकथित उच्च वर्नियों को घृणा आती थी । इसी घृणा ने दलितों को अस्पृश्य बनाया है । दरअसल, स्कूली जीवन से ही दलित बच्चों को अस्पृश्यता का अनुभव मिलना शुरू हो जाता है । उर्मिला पवार को भी स्कूल में ही यह अहसास कराया गया कि तुम दलित हो । वहीं पर सवर्ण बच्चों को भी यह शिक्षा मिलती है कि कौन दलित है ? और उनको किस तरह से व्यवहार करना चाहिए ? इसीलिए बचपन से ही सवर्ण बच्चों की मानसिकता में यह घर कर के बैठ जाता है कि हम शोषक है और दलित शोषित । आत्मकथा में इस बात को उठाया गया है । स्त्री चाहे किसी भी क्षेत्र में अपनी विशिष्ट

पहचान बना चुकी हो, उसकी अपनी पहचान से परे वह केवल एक स्त्री है और दलित स्त्री के आगे दलित विशेषण भी जुड़ा हुआ होता है । इसलिए दलित से संबंधित सभी सामाजिक वर्जनाएं झेलना भी दलित स्त्री की नियति बन जाती है । स्कूल में अध्यापकों, कर्मचारियों एवं सहपाठियों से उपेक्षा ही मिलती है ।

इस जातीय उत्पीड़न के साथ दलित स्त्री का दूसरा शोषण पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा किया जाता है । एक सामान्य दलित स्त्री का जीवन बचपन से ही यातनामय होता है । बचपन से ही उस पर कई बंदिशें और बोझ दिए जाते हैं जैसे घर के कामों में हाथ बंटाना, छोटे भाई-बहनों को संभालना आदि । दलित स्त्रियों के प्रगति मार्ग में एक बाधा सामाजिक मानसिकता, जो स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारती है और विवाह को जीवन का लक्ष्य और ससुराल को वास्तविक घर घोषित करती है । उनका व्यक्तित्व घडन भी ऐसा ही करवाया जाता है । उर्मिला पवार ने शादी से पहले और बाद में भी बहुत सारी जगहों पर नौकरियां की हैं, जिसमें एसटी ऑफिस, ग्लैक्सो लेबोरेटरी, सिविल कोर्ट आदि शामिल हैं । लेकिन जब वेतन का दिन होता था तब सारा पैसा पति के हाथ में चला जाता था । उसका वर्णन उर्मिला पवार इस तरह करती है – "एक तारीख को जब वेतन होता था तब यह विश्वास ही नहीं होता था कि यह पैसा मेरा है और मैं जैसे चाहूँ इसे खर्च कर सकती हूँ । पहले का पैसा माँ के हाथ में देती थी । शायद उसी आदत

के कारण अब पति के हाथ में देती हूँ । आगे वही रिवाज शुरू रहा ।"[69] यहाँ पर हम देख सकते हैं कि किस तरह से पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों को अपने जाल में फंसाकर रखा है, यह व्यवस्था सिर्फ दलित स्त्री ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण स्त्री जाति का शोषण करती है । लेकिन इस आत्मकथा में इस तरह की पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध भी किया गया है ।

इस आत्मकथा की भाषा साहित्यिक है लेकिन कहीं-कहीं अस्सल कोंकणी भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल हुआ है । आत्मकथा में निवेदनात्मक एवं संवादात्मक शैली का प्रयोग हुआ है ।

उपरोक्त मराठी दलित आत्मकथाओं के अलावा भी मराठी दलित आत्मकथाएँ लिखी गयी हैं, लेकिन शोध की सीमा को ध्यान में रखते हुए उन आत्मकथाओं का सिर्फ नामोल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है । वे आत्मकथाएँ हैं – गावकी-रुस्तम उचलखाम्ब, मला उद्ध्वस्त व्हायचय-मल्लिका अमर शेख, माझी वाकल-रत्नाजी आगवने, माझ्या जन्माची चित्तर कथा-शांताबाई काम्बले, राघववेळ-नामदेव काले, ख्रिस्ती महार-बालासाहेब गायकवाड, म्हारडा-पा.ऊ. जाधव, फांजर-नानासाहेब झोगडे, धूळपाटी-श्रीरंग तलवारे, काट्यावरची पोरं- उत्तम बंडू तुपे, बिर्हाड-अशोक पवार, अन्तः स्फोट-कुमुद पावडे, आभरान-पार्थ पोलके, मातीच आकाश-राम बसाखेतरे, कोंडालं-तुषार भाग्यवंत, आकांत-बाबाराव मडावी, बस्ती-वसंत मून, हकिगत आणि जटायू-केशव मेश्राम, गबाल-दादासाहेब मोरे, टांडा-आत्माराम कनीराम राठोड,

झला-ला.स.रोकडे, बारामाशी-शरणकुमार लिम्बाले, माझे क्रीडा जीवन-पी.विट्ठल, कुस्ती-विजय शिरसाट, जातीला जात वैरी-ना.म.शिंदे, मिटलेली कवाडे-मुक्ता सर्वगोड, कथा माझ्या जन्माची-नामदेव व्हटकर, मरनकला-जनाबाई कचरू गिहरे, माझी आई-आशालता काम्बले, चोरटा-संतोष पवार, दे दान सुटे गिरान- आर.के. त्रिभुवन, ऐरनिच्या घना-वैजनाथ कलसे, टाच-प्रल्हाद चेंदवनकर इत्यादि ।

3.2 हिंदी दलित आत्मकथाएँ

मराठी दलित आत्मकथा के प्रभाव स्वरूप हिंदी में, बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिंदी दलित आत्मकथाएँ लिखी जाने लगी । जिनका आलोचनात्मक विश्लेषण यहाँ पर किया जा रहा है ...

अपने अपने पिंजरे-मोहनदास नैमिशराय

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में कई प्रसंग गरीबी और तंगहाल जिंदगी के दर्ज है । लेखक का बचपन जहाँ बीता उसे 'बस्ती' कहा गया है । इस बस्ती में चमारों के अस्सी घर थे । इस बस्ती को मेरठ शहर के लोग चमार दरवज्जा के नाम से पहचानते हैं। जहाँ सभी घर कच्चे थे, छते टूटी हुयी थी । लिपी-पुती दीवारें थी, जो बरसात के दिनों में फूल उठती थी । अपनी गरीबी का वर्णन करते हुए लेखक ने आत्मकथा में लिखा है – "गर्मी और बरसात के मौसम के चिपचिपे दिन और उमसभरी रातें

दोनों ही हमारे लिए दुविधा और संकट के होते थे। हमारे लिए दिन और रात एक बराबर थे । हालाँकि दिन सफेद होते थे और रात काली । हमारे लिए रंगों का कोई मूल्य न था । हमारे तो अपने रंग अलग थे जिनके संग जीने-मरने का नाता था । वे रंग थे गरीबी और अभाव के । वे रंग थे बीमारी और काम न मिलने की तकलीफ के । हमारी इन्हीं रंगों की अलग दुनिया थी । शहर में रहते हुए भी हम शहरी न थे । हमारे आस-पास गाँव जैसा भी कुछ नहीं था ।”[70] अपनी बस्ती में सेवा-सुविधाओं के अभाव के कारण लेखक की झुंझलाहट दिखाई देती है ।

दलित जीवन में सबसे ज्यादा जाति के पहचान का दंश सहना पड़ता है । लेखक को उसका अनुभव शिक्षा ग्रहण करते समय होता है, “स्कूल में पढ़ने वाले सभी बच्चों के यूँ तो नाम होते थे लेकिन सवर्ण जाति के मास्टर उन्हें उनके नाम से नहीं पुकारकर अंट-शंट नामों से बुलाया करते थे । किसी बच्चे की अगर नाक बहती हो तो उसे रैट्टल, फैफ्फल, कहकर पुकारा जाता । कोई मोटा हुआ तो उसे मोटू, किसी के सिर पर बाल न हो तो गंजा या गंजे, आंख ख़राब हो तो काना या काने, टांग ख़राब होने पर लंगड़ा या लंगड़े आदि के रूप में संबोधन किया जाता था । अबे-तबे के बिना तो मास्टर बात ही नहीं करते थे । यही नहीं, माँ-बाप के नाम से भी अधिकतर बच्चों को बुलाया जाता था ।”[71] फिर मेरठ के सी.ए.बी. इंटर कॉलेज में जाने के बाद भी लेखक को जातिसूचक अपमान झेलना पड़ता है, “इस कॉलेज में हालाँकि हमें कोई चमार दरवज्जे का नहीं कहता था । पर उनके मुंह से जाने-अनजाने भंगी-

चमारों के लौंडे निकल पड़ता था । पर हमारी जात की छाप लग चुकी थी ।"[72] वही जब वजीफे का चेक लेने मोहनदास और उनके दोस्त कॉलेज के कार्यालय में जाते हैं तब वहां के मनमोहन शर्मा –जो वजीफे से सम्बंधित कर्मचारी हैं- और कार्यालय का हेड क्लर्क इन पर व्यंग्य करते हैं, और वजीफे का चेक देने से इनकार करते हैं । हेड क्लर्क कहता है –"अरे भई, इसमें इनकी गलती थोडी ही है । सरकार ने आरक्षण देकर इनका दिमाग ख़राब जो कर दिया है । अब तो ये सरकारी दामाद हैं ।"[73]

ऊँच-नीच की भावना से स्वर्ण जाति के लोग छुआछूत की कुप्रथा के तहत दलित जाति के लोगों को स्पर्श करना अपवित्र मानते हैं। इस प्रथा के पालन के लिए वे इन्सानियत भी भूल जाते हैं । इसी प्रकार की एक घटना लेखक के साथ घटी। मोहनदास नैमिशराय अपनी बहन के गाँव जा रहे थे, रास्ते में बस का सफ़र तय कर, कुछ मील पैदल भी जाना पड़ता था । वे गर्मी के दिन थे, इसलिए उनको प्यास लगती है । एक जगह रुककर वे गाँव के एक आदमी से पीने के लिए पानी मांगते हैं । वह आदमी पानी पिलाने की जगह उनकी जाति पूछ लेता है । नैमिशराय के भाई के मुंह से अपनी जाति 'चमार' का उच्चारण होता है । दोनों भाई बड़ी गिड़गिड़ाहट के भाव से पानी पिलाने की याचना करते हैं । पर उस सवर्ण आदमी को किसी प्रकार की दया नहीं आती है । बल्कि वह कहता है - "म्हारे घर चमारों की खातिर पानी ना है ।"[74] इसलिए लेखक को किसी जोहड़ का पानी पीना पड़ता है । इस प्रसंग के

बाद लेखक इतिहास में अपने दलित भाईयों पर हुए अत्याचारों को याद करते हैं – "हमारी जात के योद्धा कितनी बार हारे होंगे, कितनी बार टूट-टूटकर बिखरे होंगे । जब इस देश में आर्य आये होंगे । कितनी यातनाएँ सहनी नहीं पड़ी होंगी इस देश के मूल निवासियों को । वही यातनाएँ हजारों सालों से आज भी झेल रहे हैं । हमने भी तो आज बहुत कुछ झेला था । सवर्ण जाति के लोगों ने तो हमें आदमी ही मानने से इनकार कर दिया था । तभी तो मुझे जानवरों के साथ पानी पीना पड़ा था ।"[75]

एक विशिष्ट जाति के कारण शिक्षा, मंदिर, पानी से दूर रखने की सवर्णों का दस्तावेज 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथा में है। इस आत्मकथा में चमार जाति के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पहलू सामने आये हैं । ठेठ हिंदी में यह आत्मकथा लिखी गयी है । अंग्रेजी, अरबी, फारसी, उर्दू भाषा का प्रयोग हुआ है। साथ ही मुहावरों, कहावतों का प्रयोग भी हुआ है ।

जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि :-

'जूठन' जातिगत उत्पीडन्न और अतिदलित समाज के संघर्ष का आख्यान है । यह आत्मकथा नहीं अतीत की घटनाओं और पीड़ादायी अनुभवों से उपजी कराह है, जहां लेखक ही नहीं समय-समाज भी उपस्थित है - यातनामय भयावहता के साथ । आत्मकथा में उपेक्षा-अत्याचार का अनवरत सिलसिला है, जिससे आक्रोश-विरोध का उपजना स्वाभाविक है । इससे

गुजरते हुए संवेदनशील पाठक की सांसें थम सकती हैं, नसें फट सकती हैं। ऐसी ही घटनाएं और परिस्थितियां दलित साहित्य के उद्भव के मूल में हैं। 'जूठन' के आरंभ में दलित साहित्य की विषयवस्तु और आत्मकथा लिखने के कारणों पर टिप्पणी है—'दलित-जीवन की पीड़ाएं असहनीय और अनुभव-दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके।' वे अब दलित आत्मकथाओं में स्थान प्राप्त कर रहे हैं।

'जूठन' सिर्फ ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा नहीं अपितु दलित समाज का भोगा सच है, जहां जाति व्यवस्था की खतरनाक खायी है और वहां से आने वाली दर्दनाक चीखें हैं। पढ़ते समय लगता है कि 'जूठन' आह से उपजा हुआ आख्यान है। वर्णित घटनाएं और प्रसंग वर्णव्यवस्था की निमर्मता के प्रमाण हैं। प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश के समय बालक ओमप्रकाश वाल्मीकि को तरह-तरह से परेशान किया जाता है। शिक्षक द्रोणाचार्य की भूमिका में हैं, तो सहपाठी अर्जुन-भीम की तरह तीर-कमान साधे हुए हैं। प्रवेश परीक्षा अग्निपरीक्षा से कम नहीं है। तीन दिन तक लगातार झाड़ू लगवाया जाता है किंतु कक्षा में बैठने का मौका एक दिन भी नहीं मिलता।

हेडमास्टर की तेज आवाज, “चूहड़ा हो के पढऩे चला है... जा चला जा... नहीं तो हाड़-गोड़ तुड़वा दूंगा।”[76] में जातीय दंभ और अमानवीयता चरम पर है। परंतु पिता की जिद- “यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा... इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढऩे कू।”[77] दलित समाज के भावी स्वरूप का संकेत है, जहां शिक्षा के माध्यम से सवर्णवादी वर्चस्व को तोडऩे का प्रयास हो रहा है। जब हेडमास्टर का ऐसा व्यवहार है, तो छात्रों और अध्यापकों का व्यवहार कैसा होगा? इतनी उपेक्षा और प्रताडऩा के बाद भी ओमप्रकाश आठवीं कक्षा में पहुंचते-पहुंचते शरतचंद्र, प्रेमचंद और रवींद्रनाथ टैगोर के साहित्य का अध्ययन कर चुके थे । ओमप्रकाश वाल्मीकि के पात्रों के संतुलन और समझदारी के मूल में उनकी अध्ययनप्रियता तो है ही, सामाजिक अनुभव भी है ।

बालक ओमप्रकाश के पास तर्क करने की क्षमता ही नहीं, शास्त्रों पर प्रश्न उठाने का साहस भी है - “अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का मांड। फिर किसी भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी भी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा?”[78] वाल्मीकि पर द्रोणाचार्य रूपी मास्टर ने महाकाव्य तो

रचा, मगर उसकी पीठ पर और शीशम की छड़ी से । अकारण नहीं सनातन साहित्य सवालों के घेरे में आ जाता है । डॉ. धर्मवीर यूं ही नहीं सवाल उठाते हैं कि लेखन और चिंतन में दलित समुदाय उपेक्षित रहा है । हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य शुक्ल बड़े साफ शब्दों में लिखते हैं कि 'चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।' अन्य अध्यापक बालक ओमप्रकाश से काम तो लेते हैं, परंतु सहयोग की जगह प्रताडऩा देते हैं । प्रश्न पूछने पर प्रोत्साहन के स्थान पर असहनीय शब्द मिलता है- 'देखो चूहड़े का, बामन बन रहा है।'

तरह-तरह की उपेक्षाओं के बीच गरीबी-अभाव का जीवन कोढ़ में खाज से कम नहीं है । ओमप्रकाश के छठी कक्षा में प्रवेश के लिए भाभी अपनी पाजेब गिरवी रख देती है - वैद्य सत्यनारायण शर्मा के पास । इसके बाद देवर भाभी भाव-विह्वल होकर एक दूसरे से लिपट कर रोते हैं । अब शायद ही कोई ऐसा दिन हो जब देवर द्वारा भाभी के शारीरिक-आर्थिक उत्पीडऩ का समाचार न आता हो । इस प्रसंग से तथाकथित सभ्य समाज के देवर-भाभियों को सीख लेनी चाहिए ।

दलित विद्यार्थियों का पानी की पर्याप्त मात्रा के बाद भी प्यास बुझाना मुश्किल था, "परीक्षा के दिनों में प्यास लगने पर गिलास से पानी नहीं पी सकते थे । हथेलियों को जोड़कर ओक से पानी पीना पड़ता था । पिलाने

वाला चपरासी भी बहुत ऊपर से पानी डालता था । कहीं गिलास हाथों से छू न जाए।"[79] ऐसे परिवेश में एक ओर सवर्णवादी मानसिकता का विकास होगा, तो दूसरी ओर दलित विद्यार्थियों के अंदर हीनता-कुण्ठा का भाव विकसित होगा । अकारण नहीं कि शिक्षित लोग जातिवादी मानसिकता से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं । पाठ्यक्रम निर्धारण से लेकर अध्यापकों की नियुक्ति तक जातीय वर्चस्व कायम है । प्रयोगात्मक परीक्षा में भेदभाव अपने चरम पर होता है । बारहवीं कक्षा में ओमप्रकाश को रसायनशास्त्र की प्रयोगात्मक परीक्षा में फेल कर दिया जाता है, जबकि सभी विषयों में अच्छे अंक मिले थे।

पिछड़ा-दलित समाज आंतरिक जातिवाद में जकड़ा हुआ है, जिसका कटु अनुभव ओमप्रकाश वाल्मीकि को है । क्योंकि भंगी (वाल्मीकि) जाति दलितों में भी दलित हैं । "अबे चूहड़े किंधे घुसा आ रहा है? ... हम चूहड़े-चमारों के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं । जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएंगे, म्हारी तो रोजी-रोटी चली जागी।"[80] धोबी के इस कथन में एक ओर उसकी मानसिकता व्यक्त है, तो तगा (त्यागी) का सवर्णवादी-छुआछूत का दबाव भी । साथ में भंगी का कपड़ा इस्तरी करने से रोजी-रोटी जाने का भय भी ।

ऐसी परिस्थितियों में ओमप्रकाश को अहसास हो जाता है कि गरीबी-अभाव से तो निपटा जा सकता है, किंतु जाति से पार पाना आसान नहीं । गरीबी का कारण बेरोजगारी के साथ मजदूरी का कम मिलना भी है । महाजनी सभ्यता में कर्जदार का जीवन बद से बदतर होता है । ब्याज भरते-भरते जिंदगी चुक जाती है, मूलधन ज्यों का त्यों वारिस को विरासत में मिलता है । जिस समाज के ज्यादातर लोग कर्ज में डूबे हों, तो मान-सम्मान की रक्षा कैसे संभव है - "तमाम लोग खामोशी में सब-कुछ सह जाते थे। मान-सम्मान का कोई अर्थ न था। कोई भी आता, डरा-धमकाकर चला जाता था।"[81] जीवन की मूलभूत आवश्यकता - रोटी कपड़ा और मकान से सदियों तक वंचित रहा है दलित समाज । आज भी इसकी मुकम्मल व्यवस्था नहीं है इनके पास । सरकारें पौष्टिक भोजन की उपलब्धता का दावा करती रही हैं । दूध तो दूर, दलित बच्चों को मांड (चावल का पानी) भी नियमित नसीब नहीं होता। सवर्णों के यहाँ, "शादी-विवाह के मौकों पर जब उनके घरों में चावल-दाल बनते थे, तो हमारी बस्ती के बच्चे बर्तन लेकर मांड लेने दौड़ पड़ते थे। फेंक दिया जाने वाला मांड हमारे लिए गाय के दूध से ज्यादा मूल्यवान था।"[82]

भय-भूख का यह दारूण दृष्य सभी दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। यह कल्पना की चीज नहीं, दलित समाज की हकीकत है – “पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बांछें खिल जाती थीं। जूठन चटकारे लेकर खाई जाती थी।”[83] अभाव में अद्भुत उल्लास देखा जा सकता है । जीवन की दूसरी मूलभूत आवश्यकता कपड़ा बड़ी मुश्किल से नसीब होता था। गंदा पहनने पर लोग कहते थे – ‘चूहड़ा कितना गंदा पहना है।’ स्वच्छ पहनने पर- ‘चूहड़ा होकर इतना अच्छा कपड़ा पहनता है।’ जाड़े की रात गुजरना बहुत दुखदायी होता है । लेखक के शब्दों में –“देहरादून की पहली सर्दी मेरे लिए बहुत कष्टदायक रही थी। मेरे पास सर्दियों में पहनने के लिए कोई गर्म कपड़ा नहीं था।”[84]

सफायी कर्मियों की जर्सी का रंग बदलवाकर पहनने की उसके सामने विवशता है, किंतु इसे पहनने पर लड़के जमादार कहकर व्यंग्य कसते हैं । यह समस्या सिर्फ वाल्मीकि तक ही सीमित नहीं है, अपितु पूरे दलित समाज को अपने आगोश में समेटे हुए है ।

दलित आत्मकथाकारों द्वारा किया गया अभाव-उत्पीडऩ का यथार्थ चित्रण कहीं-कहीं प्रेमचंद और ‘रेणु’ को पीछे छोड़ देता है । ऐसी दु:खद

अनुभूतियां सभ्य-शहरी, संपन्न समाज के पास नहीं हो सकतीं । मेट्रोपोलिटन शहरों में रहने और पांच सितारा होटलों में बैठकर दलित समाज के विकास के लिए योजना बनाने वालों के पास जमीनी हकीकत का ज्ञान नहीं है । थोड़ा बहुत है भी, तो उसका प्रयोग नहीं कर पाते क्योंकि योजनाएं वोट बैंक को ध्यान में रखकर लोक लुभावनी बनाने का दबाव जो है ।

रोटी, कपड़ा के बाद तीसरी मूलभूत आवश्यकता है – मकान । गरीबी में दो जून की रोटी पाना मुश्किल है, तो मकान की मुकम्मल व्यवस्था कैसे संभव होगी । दलित गर्मी का दिन पेड़ के नीचे काटता है, तो रात खुले आसमान में । जाड़े का दिन अलाव-आग और पुआल के सहारे । दलित आत्मकथाओं में बरसात का वर्णन वेदनापूर्ण है । छत का चूना, दीवाल का दरकना आम बात है – "उस रात हमारी बैठक का एक हिस्सा गिर गया था । मां और पिताजी एक पल के लिए भी नहीं सोए थे । बस्ती में कई मकान गिर गए थे । लोगों के चीखने-चिल्लाने की आवाजें आ रही थीं।"[85]

दिहाड़ी दलित मजदूरों के लिए बरसात के दिन नर्क से कम नहीं होते । बरसात के कारण बाहर काम नहीं होता, अछूत को घर के अंदर काम पर लोग रखते नहीं, शाम के लिए रोटी का जुगाड़ नहीं, घर गिरने के डर से रात

को नींद नहीं आती । गलियों में कीचड़ और सुअरों की गंदगी रहती है, मक्खी-मच्छरों की संख्या में दिन दुनी रात चौगुनी की वृद्धि होती है । भंगी या महादलित के अच्छा-पक्का मकान बनवाने में तरह-तरह की अड़चनें खड़ी की जाती हैं, जिसका बखूबी वर्णन ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कहानी 'शवयात्रा' में किया है ।

मध्यकाल में संभ्रांत हिंदू समाज की विधवाओं को सती होना पड़ता था । पुनर्जागरण के बाद भी विधवा-विवाह को हीन दृष्टि से देखा जाता था । आधुनिक युग में विधवाओं पर समाज द्वारा सुविधाहीन जीवन जीने का दबाव है, किंतु दलित समाज में विधवा-विवाह को मान्यता आदिकाल से है । क्योंकि जहां स्त्रियां श्रम करती हैं, वहां उनका महत्त्व-आवश्यकता और कुछ स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। बड़े भाई सुखबीर की मृत्यु के बाद छोटे भाई जसबीर से भाभी की शादी करा दी जाती है । इस शादी को रिश्तेदार और समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त है । चाचा श्यामलाल की पत्नी को मायके वापस भेज दिया जाता है । श्यामलाल की दूसरी शादी रामकटोरी से होती है, वह भी कुछ दिनों बाद सोल्हड़ का हाथ थाम लेती है । अत: दलित समाज में विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह के नियम शिथिल हैं ।

दलित और तथाकथित सवर्ण समाज की कुछ मान्यताएं परस्पर विरोधी हैं। सभ्य समाज के लिए जो हेय है, दलित समाज के लिए वह श्रेय भी हो सकता है। सभ्य समाज (हिंदू और मुसलमान दोनों) के लिए घृणित और अछूत जानवर है - सूअर, किंतु दलित-भंगी समाज में इसका महत्त्व गौ माता से कम नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में – "शादी-ब्याह, हारी-बीमारी, जीवन-मृत्यु सभी में सूअर की महत्ता थी। यहां तक की पूजा-अर्चना भी सूअर के बिना अधूरी थी। आंगन में घूमते सूअर गंदगी के प्रतीक नहीं, बल्कि सामाजिक समृद्धि के प्रतीक थे, जो आज भी वैसे ही हैं।"[86] सूअर की महत्ता को स्थापित करने के लिए रूपनारायण सोनकर ने 'सूअरदान' (उपन्यास) लिखा है।

अकारण नहीं कि इस समाज के विकास के लिए बनी सरकारी योजनाएं फलीभूत नहीं हो पाती हैं। ऐसे में दलित आत्मकथाओं के माध्यम से जो सच निखरकर आ रहा है, उसे देखने और समझने की जरूरत है। 'जूठन' और उसके बाद आईं सभी दलित आत्मकथाओं में भूत-प्रेत, जादू-टोना का उल्लेख इस समाज की अज्ञानता और पिछड़ेपन को बयां करता है। तबीयत खराब होने पर डॉक्टर की जगह भगत (ओझा) को बुलाया जाता है और दवा की जगह भभूत या राख दी जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का आंखों देखा

हाल – "भूत के प्रभाव का जिक्र करके भगत भूत पकडऩे की क्रियाएं करता था जिसके बदले में देवी-देवताओं पर सूअर, मुर्गे, बकरे और शराब चढ़ायी जाती थी। प्रत्येक घर में उन देवताओं की पूजा होती थी।"[87]

दलित समाज की धार्मिक आस्था और विश्वास सवर्ण समाज से भिन्न है । सनातन धर्म एवं ब्राह्मण ग्रंथों में राक्षस या दानव का चरित्र अमानवीय और विध्वंसक रूप में प्रस्तुत है, क्योंकि राक्षस और दानव ब्राह्मणवादी वर्चस्व का विरोध करते हैं । प्रतिरोध की संस्कृति के पोषक दानव का संबंध द्रविड़ से भी हो सकता है । दलित समाज की धार्मिक मान्यताओं पर स्थानीयता या क्षेत्रीयता प्रभावी है । उत्तर प्रदेश में चमरिया माई और शीतला देवी का महत्त्व है, तो हिमाचल और उसके आसपास के क्षेत्रों में ज्वाला देवी का । बच्चों पर कृपा करने वाली देवी पचौटे वाली है । धर्मशास्त्रों के दबाव में दलितों को ज्ञान एवं धन-संपदा से वंचित रखा गया, तो इनके यहां सरस्वती एवं लक्ष्मी का महत्त्व कैसे संभव है ? रामकथा में शंबूक का वध किया जाता है और महाभारत में एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा गुरुदक्षिणा में मांग लिया जाता है, तो इन ग्रंथों की सहज स्वीकृति दलित समाज में कैसे संभव होगी?

आत्मकथाएं दलित समाज का आईना हैं, जिसमें सामान्य जीवन व्यवहार के साथ धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्यों को भी देखा जा सकता है। अपने समाज की धार्मिक मान्यताओं-आस्थाओं का यथा अवसर उल्लेख मिलता है। “दलित घरों में पूजे जाने वाले देवता हिंदू देवी-देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी-पुराण में ढूंढने से भी नहीं मिलेंगे । ...जन्म हो या कोई शुभ कार्य, शादी-विवाह या मृत्यु-भोज! - इन देवी देवताओं की पूजा बिना अधूरा है।”[88]

आजादी के स्वर्णजयंती वर्ष में प्रकाशित ‘जूठन’ उसके खोखलेपन को व्यक्त करने में सफल रही । ऐसे जनतंत्र का क्या मतलब, जिसमें लोकतांत्रिक अधिकार चंद लोगों की मुट्ठी में हों ? आजादी के बाद ‘एक दुनिया समानांतर’ के लोमहर्षक सच का यह दस्तावेज है, जिसकी सर्जनात्मक क्षमता से हिंदी में दलित आत्मकथा लेखक का मार्ग प्रशस्त हुआ । अकारण नहीं कि इसका देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ और एन.सी.ई.आर.टी. सहित विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान मिला । पाठ्यक्रमों में दलित साहित्य को स्थान दिलाने में वाल्मीकि जी के रचनात्मक लेखन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

दोहरा अभिशाप- कौशल्या बैसंत्री

कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' यह हिंदी दलित स्त्री की पहली आत्मकथा है। कौशल्या बैसंत्री का जन्म अछूत जाति (महार) तथा एक गरीब परिवार में नागपुर की खलाशीलाईन नामक बस्ती में हुआ । बस्ती में रहने वाले लोगों के सामने अनेक समस्याएँ थी । वे आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर थे । उनके बच्चे नंग धडंग घूमते थे । बारिश के दिनों में बस्ती में सब कीचड़ ही कीचड़ भर जाता था । बच्चे खुले में पाखाना करते थे । इतनी बड़ी बस्ती के लिए तीन पाखाने थे । साफ-सफाई की कमी के कारण गन्दगी से भरा माहौल दिखाई देता था । नल को पानी कम आता था । पानी के लिए झगड़े-फसाद होते थे । इन स्थितियों से वहां के दलितों को लड़ना था। इसका चित्रण इस आत्मकथा में हुआ है । लेखिका अपनी स्थिति का वर्णन करने के बहाने दलित जीवन का समग्र चित्र उपस्थीत करती है ।

'दोहरा अभिशाप' में लेखिका ने अपने परिवार के साथ जो आर्थिक अभाव भरा जीवन जिया उसे अनेक पृष्ठों में अभिव्यक्त किया है । लेखिका अपने तीन पीढ़ियों के आर्थिक तंगहाली का वर्णन करती है । पहली पीढ़ी उनकी (नानी) आजी की है । दूसरी उनके माँ-बाप की है । और तीसरी पीढ़ी लेखिका की है ।

लेखिका की आजी मेहनती, स्वाभिमानी, दृढ़ निश्चयी और खुद्दार थी । इस बात को लेखिका अपने माँ से जानती है । वह गरीबी के कारण दर-दर की ठोंकरे खाती हुई नागपुर आती है, अपने छोटे बच्चों के साथ । अपने पति के व्यवहार से तंग आकर वह नागपुर पहुँचती है । नागपुर में आकर मेहनत, मजदूरी कर बच्चों को पालती है । कुछ पैसे जमा होने के बाद एक खाली जगह पर झोपड़ी बनाती है । अपने स्वाभिमानी स्वभाव के कारण ही वह किसी के सामने हाथ नहीं फैलाती । जीवन भर के लिए जिस पति का घर उन्होंने छोड़ा था वहां न यह आजी फिर से लौटती है न उनका बेटा श्रावण । सब तरह के दुःख झेलते हुए लेखिका की आजी अपने बच्चों को अपने बलबूते पर, पाल पोस कर बड़ा करती है । उन पर श्रम की प्रतिष्ठा करने का संस्कार करती है । वही संस्कार लेखिका के माँ पर पड़ते हैं।

लेखिका कौशल्या बैसंत्री के माता-पिता जहाँ रहते थे उस बस्ती का नाम खलाशी लाईन था । यहाँ अधिकांश मजदूर, अनपढ़, अछूत ही रहते थे । गरीबी और अमीरी का फासला दर्ज करते हुए लेखिका लिखती है – “सड़क के एक ओर गरीब अशिक्षित और सड़क के दूसरी ओर अमीर पढ़े-लिखे। सिर्फ एक सड़क उन्हें विभाजित करती थी । परन्तु जमीन आसमान का फरक था दोनों में ।”[89] इसी बस्ती में लेखिका का जन्म हुआ । माँ-बाप दोनों काम पर जाते थे तब उनकी बड़ी बहन जनाबाई ही उन्हें संभालती थी । रोजी-रोटी की चिंता में मजदूर लोग अपने बच्चों की सेहत की ओर अधिक ध्यान नहीं दे

पाते हैं। उनके पास समय का ही नहीं, पैसों का भी अभाव रहता है। अतः उनके बच्चे हमेशा बीमार रहते हैं। गरीब लोग अपने बच्चों का इलाज डॉक्टर से करने के बजाय बाबा, फ़कीर, मुल्ला या देवी-देवता के मंदिर से करवाते हैं। इसका एक ही कारण है आर्थिक स्थिति। जिसके चलते सभी लोग मुफ्त इलाज करने के चक्कर में फंस जाते हैं, दूसरों को फँसाते हैं। इन सभी चीजों का आत्मकथा में चित्रण हुआ है।

कौशल्या बैसंत्री बस्ती के स्कूल में तीसरी कक्षा तक पढ़ चुकी थी। चौथी कक्षा में भिड़े कन्याशाला में दाखिल हुई। वहाँ का वातावरण पहले वाले स्कूल से बिलकुल भिन्न था। यहाँ आकर लेखिका स्वयं को अन्य विद्यार्थियों की तुलना में हीन समझने लगी। क्योंकि लेखिका ने महसूस किया कि यहाँ आनेवाली लड़कियाँ अमीर घरों से है। जो साफ-सुथरे, अच्छे कपड़े वह भी ऊँचे दाम वाले, कीमती टिफिन, खाने के लिए तरह-तरह की चीजें, लाती थी। उसकी तुलना में लेखिका की स्थिति सोचनीय थी। वह रूखी-सुखी रोटी, हल्के किस्म की रोटी कभी-कभार ले जा पाती थी। स्कूल में खाना भी सबसे चुपके-चुपके खाती थी ताकि कोई उसका खाना देख न पाए।

घर के अन्य बच्चे भी पढ़ रहे थे, सब की स्कूल फीज देना कौशल्या बैसंत्री के पिता के बस की बात नहीं थी। इसलिए उनके पिता स्कूल में आकर हेड मिस्ट्रेस से बिनती करते हैं। कौशल्या ने लिखा है – "बाबा ने हेड मिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं

कर सकते थे । बाबा का चेहरा, कितना मायूस लग रहा था उस वक्त !मेरी आंखे भर आई थी । अब भी बात की याद आते ही बहुत व्यथीत हो जाती हूँ । अपमान महसूस करती हूँ । जाति-पाति बनाने वाले का मुंह नोचने का मन करता है । अपमान का बदला लेने का मन करता है ।”[90] आर्थिक गरीबी और जाति से अछूत होना यह बात दलितों को हजारों सालों से व्यथीत करती आ रही है । जो उन्हें सम्मानपूर्वक जीने नहीं देती । लेखिका स्त्री जीवन की पीड़ाओं को निजी अनुभूति के धरातल पर जी चुकी है। लेखिका अपने पति के बारे में लिखती है – “पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में ही देखना चाहता था ।”[91] इससे यह पता चलता है कि दलित पुरुषों में भी स्त्री के प्रति मनुवादी मानसिकता छिपी हुई है । इसका भी विरोध इस आत्मकथा में दिखाई देता है ।

कौशल्या बैसंत्री छात्रावस्था से ही प्रगतिशील विचारों की कायल रही है । छात्रावस्था में शैड्यूलकास्ट विद्यार्थी संगठन में सक्रीय रही । भारत के अन्य प्रान्तों में सम्पन्न होने वाले अधिवेशन में हिस्सा लेती रही । लेखिका दलित बस्तियों में जाकर दलित महिलाओं को जागृत करने का काम करती रही । दिल्ली में रहते हुए उन्होंने ‘महिला समता समाज’ नाम की संस्था स्थापित की । इस संस्था में महिलाओं को जोड़ने के लिए उन्हें बड़ी मेहनत करनी पड़ी क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति को पूछे बिना इस संस्था में नहीं आ पा

रही थी, तब कौशल्या जी को उनके पतियों से भी बात करने पड़ती थी । इस तरह से जीवन के अंतिम समय तक कौशल्या जी समाजकार्य करती रहीं ।

लेखिका विवाह होने के बाद पति के साथ दिल्ली, भोपाल, बिहार आदि हिंदी प्रदेश में ही अधिक रही । पति हिंदी प्रदेश से होने के कारण हिंदी भाषा का उनके परिवार में अधिक चलन रहा । शायद इसलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा हिंदी में लिखी । कौशल्या जी मूलतः मराठी भाषी होने कारण मराठी भाषा का प्रभाव इस आत्मकथा पर पड़ा है, जैसे – दे दान छूटे गिरान, देवा, चिमनी, ओवी टेकडी, जोडवे आदि । मराठी भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा के भी शब्द इस आत्मकथा में आये हैं । आत्मकथा की भाषा सरल-सीधी है । इस आत्मकथा में आशिष्ट, अश्लील शब्द प्रयोग नहीं हुआ है ।

मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसीराम .

डॉ .तुलसीराम ने चमार जाति में जन्म लिया और दलित होने का दुःख सामाजिक व्यवस्था के कारण पाया पर चेचक की आपदा से दाईं आंख का खोना 'अशुभ' की श्रेणी में लाकर पटक देता है, अतः उनका दर्शन घर से लेकर बाहर तक के लिए 'अपशकुन' बना देता है । पास-पडोस-, अपनों और अन्यों से की गई जातिगत और आंखगत टिप्पणियां उन्हें हमेशा वेदना देती है । 'कनवा बड़ा तेज हौ', 'एक फाटक बंद है' कहना तथा जाति पर आधारित की

गई टिप्पणियां मर्मांतक वेदना देती है । स्कूल में बर्तन छूकर पानी पीने की आजादी नहीं और सवर्ण छात्र द्वारा उनके लिए पानी देने की विधा में आनंद ले लेकर कपडे भिगोते जाना भद्दे मजाक से कम नहीं था-। "हम अंजुरी मुंह से लगाए झुके रहते, और वे बहुत ऊपर से चबूतरे पर खड़े-खड़े पानी गिराते। वे पानी बहुत कम पिलाते थे किंतु सिर पर गिराते ज्यादा थे जिससे हम बुरी तरह भीग जाते थे। पानी पीना वास्तव में एक विकट समस्या थी ...।"[92] यह घटना आजादी के बाद की है जहां संविधान में सबके लिए समानधिकार था कानूनी तौर पर। छुआछूत मिटने का सभी बढ़चढ़कर ऐलान कर चुके थे-, ऐसे समय में यह दृश्य वेदना और घृणा निर्माण करते हैं । आत्मकथा के भीतर तुलसी राम जी ने पारूपुर गांव के एक 'मुसहर' परिवार का जिक्र किया है, जो पलाश की पत्तियों से पत्तल बनाया करता है। शादीविवाह जैसे त्यौहारों - के लिए सबके खाने की पत्तल -का इंतजाम करता यह परिवार जूठी पत्तलों से झाड़झाड़कर भोजन को इकठ्ठा करता है-, यह दृश्य अमानवीयता की हद है। पढाईलिखाई में ईमानदार और -प्रतिभा के धनी तुलसी राम मन लगाकर - मेहनत कर रहे हैं। इम्तहान की फीस के लिए चार आने की उसकी मांग मुन्नर चाचा ठुकराते हैं कोई बात नहीं पर"ई सब इंतिहाने के बदले पइसा ले जाइके नोनियानिया क पकौडी खालै।"[93] कहना बाल मानसिकता को आहत कर देता है। जहां पर अपनी ईमामदारी का कोई मूल्य नहीं वहां पर रहना

बहुत मुश्किल है ऐसा किसी बच्चे का सोचना उसकी दीनपीडित स्थिति -हीन- का बखान करता है; बिना सोचे समझे की गई टिप्पणी किसी के हृदय पर गहरे घांव कर सकती है इसका परिचय भी देती है। स्कूल में दलितों की बैठने की अलग कतार या पहली बार पाजामा पहन स्कूल जाने पर ब्राह्मणों द्वारा की गई टिप्पणी 'बाप के पाद ना आवे, पूत शंख बजावे' उच्च वर्णियों की ईष्या को भी दिखाता है। डॉ. तुलसीराम 'मुर्दहिया' आत्मकथा में पीड़ा और वेदना को नए सिरे से अभिव्यक्ति देते हैं।

सहज, सरल और सार्थक जीवन जीने के लिए पैसों की जरूरत होती है और दलित के पास पैसा कम और अभाव ज्यादा होते हैं । अर्थाभाव की मार झेलते छोटे बड़े परिवार-खाने की चीजों से ओढ़ने तक के लिए तरसते हैं, शिक्षा और किताबें तो दूर की बात है । तुलसी राम जाड़े के दिनों के संघर्ष का वर्णन करते हैं - "हमारे घर में सोने के लिए जाड़े के दिनों में घर की फर्श पर धान का पोरा अर्थात् पुआल बिछाया जाता था। उस पर कोई रेवा या गुदडी बिछाकर हम धोती ओढ़कर सो जाते। इसके बाद मेरे पिता जी पुनः ढेर सारा पुआल हम लोगों के ऊपर फैला देते।वे दिन आज भी याद आते हैं ..., तो मुझे लगता है कि मुर्दोंसा लेटे हुए हमारे नीचे पुआल-, ऊपर भी पुआल और बीच में कफन ओढ़े हम सो नहीं बल्कि रात भर अपनी अपनी चिताओं-के जलने का

इंतजार कर रहे हो।"[94] पिता जी के साथ मिलकर जमीन में गड़ी सड़ी लाश को ऊपर निकालना और सुदेस्सर पांडे को सोने की मुनरी देने की घटना में लेखकीय संघर्षशील जिंदगी के विड़बना का चित्रण है । दलित मजदूरों से मुफ्त में काम करवाना दिनभर के काम के बदले में एकएक केडा फसल पाना - शोषण और संघर्ष की चरमसीमा है। मरी हुई गायका चमड़ा निकालते वक्त छोटे तुलसी राम का 'हाहोहाहो-' करते गिद्धों को भगाना और चादर की तरह चौपत कर चमड़े को ढोना हरिजनों के संघर्ष का वर्णन करता है ।

लेखक के दादा की मृत्यु भूत से पीट-पीटकर होने का जिक्र सभी करते हैं और स्वीकारते भी हैं पर लेखक का तर्क और आत्मपरीक्षण बताता है कि उनके किसी दुश्मन ने इस अंधविश्वास का गलत लाभ उठाया होगा, यह तर्क लेखक की आरंभिक चेतना का द्योतक है । दलित लोगों द्वारा अपने लोगों को ही 'कुजाति' करना और वापसी के लिए दंड़स्वरूप सूअर-भात खिलाने की मांग गरीबी के भीतर और डूबते जाना है। जरूरी है 'कुजाति' प्रथा का आत्मपरीक्षण करें। लेखक अपने घर के बारे में लिखते हैं पर लेखक का घर-परिवार सारे दलितों का हैं। "हमारा परिवार संयुक्त स्वरूप से बृहत् होने के साथ-साथ वास्तव में एक अजायबघर ही था, जिसमें भूत-प्रेत, देवी-देवता, संपन्नता-विपन्नता, शकुन-अपशकुन, मान-अपमान, न्याय-अन्याय, सत्य-

असत्य, ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुख आदि-आदि सबकुछ था किंतु शिक्षा कभी नहीं थी।''[95] यह वाक्य दलितों के शिक्षा अभाव को दर्शाता है।

लेखकीय आत्मपरीक्षण, सब्र, सहनशीलता का उदाहरण पांचवी की परीक्षा के दौरान का है । दादी के कहने पर परीक्षा के पहले नहाना और 'चमरिया माई' की पूजा करना लेखक चाह रहे थे पर सवर्ण रामचरण यादव के ''जल्दि से भाग चमार कहीं क। बड़कन लोगन के पोखरा में तू नहरबे ?''[96] कहते समय का रौद्र रूप देख डरना और भागना। परीक्षा के पहले आत्मविश्वास टूटते जाना, मन में मौन विद्रोह, आक्रोश, दुःख, डर, भय पर शिक्षा को पाने के लिए आत्मा की कुर्बानी देना आत्मपरीक्षण ही है । लेखक आगे लिखते हैं कि ''इस घटना ने उस पुरानी पीडा से मुझे मुक्त कर दिया। और मुझे लगने लगा कि वैसी घटनाएं बदले की भावना से नहीं, बल्कि वैचारिक चेतना से ही रोकी जा सकती है।''[97] लेखक के जीवन पर बुद्ध विचारों का गहरा प्रभाव है, उसका परीक्षण करते वे लिखते हैं कि ''उनके ज्ञान का मुख्य निचौड़ था दुनिया में दुख है, दुख का कारण है, दुख का निवारण है तथा दुख निवारण का मार्ग है।''[98] लेखकीय तात्विक विवेचन, परीक्षण और चिंतन भविष्य का रास्ता तय करने में सहायक होता है। अर्थात्

प्रत्येक कृति का आत्मपरीक्षण दलितों का जीवन बदल सकता है। आत्मपरीक्षण, अनुभव, घटना और प्रसंग के आधार पर जीवन को मूल्यांकित करने की लेखक की अपेक्षा है।

लेखक ने जेदी चाचा के अहिंसात्मक प्रतिरोध को वर्णित किया है। जेदी चाचा किसी भी अन्याय के प्रति आवाज उठाते और सत्याग्रह पर बैठ जाते। इस परेशानी से मुक्ति पाने के लिए और जेदी चाचा को सबक सिखाने के लिए झूठ मूठ का बकरी चोरी का आरोप लगाकर- थाने ले लिया गया। पिटवाया गया और रस्सी से बांधकर पकड़कर ले जाया गया। मूल बात यह थी कि यह आरोप तथ्यहीन थे और बासू पांडे के पास कभी कोई बकरी थी भी नहीं। बाद में जेदी चाचा छुटे भी परंतु सारे दलितों पर पुलिस का भय हांवी रहा। जेदी चाचा ने अपना सत्याग्रह जारी रखा। “बासू पांडे के इस छलिया कपट से आघातित होकर जेदी चाचा प्रतिरोधस्वरूप नए किस्म का सत्याग्रह करने लगे। वे सब काममूंछ बढाना शुरू कर दिए तथा निचंड़ -धाम बंद कर दाढी-धूप में चारपाई डालकर एक चादर ओढ़कर दिनभर सोते रहते थे। पूछने पर कहते थे कि जब तक बामन न्याय नहीं करते, मैं दाढीमूंछ बढाता रहूंगा तथा -धूप में ही सोऊंगा। वे इस मामले में निहायत जिद्दी थे। पंचायत आदि द्वारा किसी अन्य समझौते को वे मानने से साफ इनकार कर दिए थे।”[99] जेदी चाचा का यह सत्याग्रह, असहकार प्रतिरोधकस्वरूप है हांलाकि इसमें उनकी

मौत होती है लेकिन सारे दलित समाज में संवेदना, चेतना का टिमटिमता दीप जलाकर, यह बात कोई कम नहीं। लेखक को प्राप्त हुई 162 रुपए की स्कॉलरशीप में से 81 रुपए की लूट करने वाले देवराज सिंह दोस्ती के नाम पर धब्बा है। जो आदमी अपनी फाकाकशी में पकौडी खिलाकर स्वागत करता है, दोस्ती के लिए जान देने की बात करता है उसके सीने पर छुरी रखकर 81 रुपए की लूट करना कहां की मर्दुमकी है। लेखकीय अहिंसात्मक वृत्ति कहे या दूध का जला छाछ भी फूंककर पीता है वाली वृत्ति कहे आगे के लिए सचेत रहती हैं। इस घटना के बाद भी उनका यह लिखना कि ‘‘देवराज सिंह से कभी दुबारा मुलाखात नहीं हुई। मगर, कभी मिल गए, तो मैं उनका स्वागत पकौडियों से अवश्य करूंगा।’’[100] मौन प्रतिरोध है। जो ऐसी प्रवृत्ति वाले लोगों के मुंह पर झनझनाता थप्पड़ जड़ देता है। कुलमिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि दलितों के भीतर का एक पात्र भविष्य को बनाने के लिए कई कुर्बानियां देता है और अपने प्रतिरोध को ‘डिफेन्सीव’ भी बनाता है। उसका कारण तत्कालीन परिस्थितियां है। हर आदमी की प्रकृति उसे नएनए - मार्ग बता देती है और उसके हिसाब से उसका बर्ताव भी तय होता है। ‘मुर्दहिया’ के अन्य ग्रामीण दलित पात्र सवर्णों को ‘कूर’ में पराजीत करवाते हैं यह बात प्रशंसनीय है। ऐसी घटनाओं से उनको आत्मबल भी मिलता है।

यहां एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना आवश्यक है जो लेखक के साथ दसवीं की फायनल परीक्षा के दौरान घटित होती है । उन्हीं की क्लास में पढ़ता हीरालाल बचपन से लेखक के साथ बेवजह भीड़ता था और अपमानित करता था । बार-बार 'चमरा-चमरा' कहकर अपमानित करना आम बात थी पर उसका "का रे चमरा तं येहो आ गइले।... देखत हईं तू कइसे इम्तिहान दे ला ।"[101] कहना लेखक को भयभीत करता है। रूपराम तक यह बात जब पहुंच जाती है, वह विद्रोह कर उठते हैं। दस-पंद्रह आदमियों को लेकर लाठी-भाले के साथ गरजना, दलित समाज के प्रति उनकी एकजुटता का बेजोड़ उदाहरण है, लेखक के रोकने के पश्चात् वे सब रूके नहीं तो हीरालाल का पिटना तय था। ऐसे दस-बीस पात्र अगर हाथों में लाठी और आवाज में दहाड़ लेकर बरसने लगे तो सवर्णों के अन्याय और हिकारत को मिटाया जा सकता है।

डॉ. तुलसी राम का बचपन हमेशा मौन और आत्मपरीक्षण के साथ गुजरता है। उनके मन में कई बाते चलती हैं लेकिन सामाजिक जीत और परिवर्तन के लिए कई बार सहनशीलता को अपनाती है। उनके कड़वे विद्रोह से एक बार चकित होना भी होता है। "सन् 1961 के ही जाडों की बात है, पिता जी मां को मारने के लिए फरुही लेकर दौडे । मैं वहीं खडा था । मैंने

बहुत जोर से पिता जी को एक तमाचा मारा।''[102] इसके बाद पिता जी द्वारा उन्हें भी पिटा गया परंतु बेटे की इस पहल के बाद दुबारा मां को मारने से वे घबराने लगे। यह प्रसंग लेखक के उबलते विद्रोह को दिखाता है। सामाजिक दबाव, अत्याचार के विरोध में उनका विद्रोह 'लडाई' के नाते कभी फूटा नहीं परंतु 'पढाई' के नाते फूटा और उसका रूख शिक्षा की ओर मोड़ने में लेखक ने सफलता पाई और यह थप्पड़ समाज का ठेका ले चुके सवर्णों के गाल पर जबरदस्त पडा है । लेखकीय प्रतिभा, समयसूचकता, सब्र, मेहनत, सामाजिक भान विद्रोह के ही अंग बनकर सामने आ जाते हैं ।

तिरस्कृत- सूरजपाल चौहान

सूरजपाल चौहान का जन्म समाजव्यवस्था के सबसे निम्न तबके की जाति 'भंगी' समाज के एक निम्न आय प्राप्त परिवार में, गाँव फुसावली, जनपद अलीगढ़ में हुआ । रोहनलाल सूरजपाल के पिता थे । लेखक की माँ का नाम अशरफियाँ था, जिनकी दीर्घ बीमारी के कारण लेखक के बाल्यवस्था में ही मृत्यु हुई थी । सूरजपाल के दो भाई है - सुनहरी और रंगबर । बड़े और छोटे बेटे को सूरजपाल के पिता अपने रिश्तेदारों के यहाँ छोड़कर सूरजपाल को अपने साथ दिल्ली ले आते हैं जहाँ पर वे प्रबंधक कार्यालय में सफाई कर्मचारी थे । दिल्ली में ही खान मार्केट की नगर निगम प्राथमिक स्कूल में लेखक दाखिला का हुआ । पढ़ाई के दौरान दैनिक भत्ते पांच रुपये से 'जीवन

बीमा निगम' में सफाई कर्मचारी का काम किया । यहाँ दस-बारह अधिकारीयों के कैबिन, चार लम्बे चौड़े हॉल और दो जगह बनी लैट्रिन-बाथरूम साफ करना इत्यादि काम था । यह काम दिन भर जुटे रहने पर खत्म नहीं होता था। तब कभी पिता, कभी बड़े भाई मदद के लिए आते थे । इस काम को लेकर लेखक कहते हैं – "एल.आई.सी. के ऑफिस में झाड़ू और पोछा लगाते-लगाते मेरी कमर दोहरी हो जाती । बस किसी तरह से रो-पीटकर मैंने वहां दो महीने तक काम किया"[103] इस तरह की बुरी आर्थिक दशा के बावजूद लेखक ने पढाई से कभी ध्यान नहीं हटाया ।

लेखक गाँव में कम शहर में अधिक रहे हैं । उनकी प्राथमिक से लेकर बी.ए. तक की शिक्षा दिल्ली में ही पूरी हुयी । स्कूल, कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करते समय उन्हें अपनी जाति के कारण समय-समय पर अपमानित होना पड़ा । इसका उल्लेख करते हुए वे अपने संस्कृत के अध्यापक वेदपाल शर्मा के व्यवहार को रेखांकित करते हैं । एक बार वेदपाल शर्मा ने अपने साथी अध्यापकों से सूरजपाल की ओर संकेत करते हुए कहा था – "यदि देश के सारे चूहड़े-चमार पढ़ लिख गए तो गली-मोहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा?"[104] यहाँ सवर्ण मानसिकता को यह कतई गवारा नहीं कि निम्न जाति के लोग पढ़-लिखकर तरक्की करें । लेखक को कॉलेज में पढ़ते हुए ऐसे ही हालात से गुजरना पड़ता है । लेखक अपने नाम के साथ गौत्र चौहान का प्रयोग करने लगते हैं । परिणामस्वरूप कॉलेज के सहपाठी उन्हें राजपूत

समझने लगते है । मित्र के माता-पिता, मित्र की पत्नी आदि के घर आना जाना शुरू हो जाता है । लेखक जब मित्र अनुपम जैन के घर जाते हैं, उस परिवार के सदस्य देश के दलितों के विषय में चर्चा करते हैं और सरकार, कानून को कोसते हुए कहते हैं – "साले चुहड़े चमार पढ़-लिखकर आगे बढ़ते जा रहे है, जगजीवन राम चमार को देखों-रक्षा मंत्री के पद तक पहुँच गया ।"[105] लेखक इस पर सौम्य विरोध करते हैं पर उन्हें डपट कर चुप किया जाता है । सवर्णों को उनकी जाति पता नहीं थी । लेकिन जब उनको लेखक की जाती पता चलती है तब लेखक के साथ उनके सभी तरह के रिश्ते टूट जाते हैं ।

गरीबी और भूख के कारण किस तरह के काम दलित समाज को करने पड़ते हैं इसका विस्तृत वर्णन इस आत्मकथा में हुआ है । जब सूरजपाल चौहान के पिता दिल्ली में निजामुद्दीन रेलवे स्टेशन पर मजदूरी करते थे तब उनकी माँ गाँव के ठाकुरों बसीठों के घर, मोहल्ले में साफ-सफाई का काम करती थी । बदले में बसीठों के यहाँ से एक-एक रोटी मिलती थी । वह भी मटर के आटे की । सवर्ण लोग गेहूँ या गौंचना खाते थे लेकिन भंगियों को देने के लिए वे मटर की रोटी बनाते थे । जिसको निगलना बहुत मुश्किल हो जाता था । इसका वर्णन इस आत्मकथा में हुआ है । इसके साथ ही जूठन उठाने का वर्णन भी हुआ है । दरअसल, जूठन उठाना और परिवार में बांटकर खाना आदि अपमान जनक काम दलित परिवार के सदस्य खुशी से नहीं करते

। उसके पीछे उनके पेट की आग धधक रही होती है । जिसे वे किसी तरह बुझा लेते हैं । जूठन उठाने वाले और कुत्ते एक जगह पत्तल की ताक में होने की बात का जिक्र लेखक ने किया है । स्वयं लेखक बचपन में अपनी माँ के साथ जूठन उठाने गए थे । उस अनुभव को लेखक व्यक्त करते हुए कहते हैं – "माँ दोनों हाथों से जूठन संकेलने में लगी हुयी थी और मैं डंडा लिए होशियार था । कुत्ते मेरे ऊपर गुर्रा रहे थे, लेकिन डंडे की मार से घबरा कर दूर खड़े थे । कुत्तों का गुर्राना उचित था, क्योंकि हम उनके हिस्से का माल समेट रहे थे ।"[106] जूठन उठाना घर ले जाना, उस मिश्रित अन्न को सुखाकर रखना और अपने बच्चों को भूख लगने पर उसे उबालकर 'लपसी' बनाकर खिलाना, यह जीवन था । इससे पता चलता है कि दलितों की हालत पशु जैसी थी ।

इस आत्मकथा में गाँव और शहर के दलित समाज के जीवन का विस्तृत वर्णन हुआ है, जिसमें गरीबी, छुआछूत, शिक्षा ग्रहण करते समय आने वाली समस्याएँ, दलितों में जाति छिपाने की मानसिकता, दलितों में प्रचलित बाल-विवाह, दलित जाति के अंतर्गत ऊंच-नीच की भावना, अंधश्रद्धा, मांस और मद्यपान का अत्याधित सेवन आदि का समावेश है ।

'तिरस्कृत' आत्मकथा में लेखक ने हिंदी भाषा के तत्सम, तद्भव, देशज के साथ-साथ विदेशी भाषा अंग्रेजी के शब्द, अरबी फारसी के उर्दू शब्द, अपनी बोली भाषा से संबंधित देशज शब्द प्रयुक्त किये है । इस आत्मकथा में प्रसंगानुसार एवं चरित्रानुसार भाषा प्रयोग की गयी है ।

उपरोक्त हिंदी दलित आत्मकथाओं के अलावा भी हिंदी दलित आत्मकथाएँ लिखी गयी हैं, लेकिन शोध की सीमा को ध्यान में रखते हुए उन आत्मकथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण न करते हुए सिर्फ नामोल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है । वे आत्मकथाएँ हैं – संतप्त-सूरजपाल चौहान, नागफनी-रूपनारायण सोनकर, मेरा बचपन मेरे कन्धों पर-श्योराज सिंह बेचैन, मुर्दहिया (भाग-2)-तुलसीराम, शिकंजे का दर्द-सुशीला टाकभोरे, झोपड़ी से राजभवन तक-माता प्रसाद, मेरा सफ़र मेरी मंजिल-डी. आर. जाटव, जब मुझे चोर कहा-एन. आर. सागर, तिरस्कार-के. नाथ, घुटन-डॉ.रमाशंकर आर्य, मेरी पत्नी और भेड़िया, खसम खुशी क्यों होय?-डॉ.धर्मवीर इत्यादि । हिंदी क्षेत्र से अंग्रेजी में दो आत्मकथाएँ आयी हैं- हजारी की 'आई वाज इन आउट कास्ट इंडियन' और प्रो. श्यामलाल की 'अनटोल्ड स्टोरी ऑफ़ ए भंगी वाईस चांसलर' ।

3.3 अन्य भाषा में लिखित दलित आत्मकथाएं

मराठी और हिंदी दलित आत्मकथाओं के अलावा **तमिल** में एक दलित आत्मकथा लिखी गयी है । वह आत्मकथा है 'करुक्कु' और आत्मकथाकार है बामा । बामा प्रसिद्ध तमिल लेखिका हैं । वह जातिवाद को लेकर हुए अन्यायों और भेदभाव को अपना विषय बनाती हैं । कैथोलिक चर्च में पहले नन और अब कांजीपुरम के एक सरकारी विद्यालय में पढ़ाती है और अपने धार्मिक और स्त्रीजन्य अनुभवों के विषय पर वह बेबाकी से बात करती हैं ।

उन्होंने अपनी आत्मकथा 'करुक्कु' नाम से लिखी है । यह आत्मकथा एक दलित क्रिश्चियन स्त्री की है । 'करुक्कु' का अर्थ है – "ताड़ के वृक्ष के पत्तों के डंठलों के दोनों तरफ छोटे-छोटे काले रंग का कंटीला स्थल रहता है । यह आरी की तरह धारयुक्त होने के कारण हमें आसानी से काट कर चोट पहुँचा सकता है । इसी कंटीले भाग को तमिल में 'करुक्कु' कहा जाता है ।"[107] 'अन्यथा' पत्रिका के अंक 12 के (जून, 2008) विशेषांक 'दलित-अश्वेत महिलाओं की संघर्ष कथा' में बामा का साक्षात्कार एवं आत्मकथांश छपा था । अपने साक्षात्कार में बामा कहती हैं - "मैं पढ़ी लिखी स्त्री हूँ, नौकरी करती हूँ । पर मेरी पहचान अभी भी एक 'दलित स्त्री' की है । I will always be a Dalit woman, not just a woman."[108] बामा ने समाज की वास्तविकता यहाँ पर बताई है । चूँकि भारत में दक्षिण से लेकर उत्तर तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक सभी जगहों पर पितृसत्तात्मक मानसिकता व्याप्त है ।

बामा को अश्पृश्यता का पहला अनुभव अपने बचपन में ही मिला था, जब दलित 'परैया' जाति के एक (मजदूर) वृद्ध ने सवर्ण जाति 'नायक्कर'(जमींदार) के हाथों पर कागज में लपेटकर और वह भी सिर्फ धागे को पकड़कर लायी हुई गर्म भुजिया दूर से उसके हाथ में रखता है तब उसकी चाल और उसको देखकर लेखिका को हंसी आती है । लेकिन बाद में लेखिका के बड़े भाई उस वृद्ध आदमी के बारे में उनको बताते हैं कि "उन्होंने मस्ती में ऐसे नहीं किया । नायक्कर ऊँची जात के हैं और परैय जाति के लोग अछूत होने

के कारण, कोई भी उच्च जाति वाला, उनका छुआ नहीं खाता ।"[109] यह सुनकर लेखिका की हंसी बंद हो जाती है और गुस्सा भी आता है। तब से लेखिका ने देखा था कि किस तरह से उनकी दादी को सवर्ण औरतें ऊपर से खाना परोसती थीं और किस तरह से गाँव के परैय जाति के साथ सवर्ण लोग अस्पृश्यता का व्यवहार करते हैं। दरअसल, बचपन से ही दलित बच्चों को यह अहसास दिलाया जाता है कि तुम दलित हो। सवर्ण तो सवर्ण, घर के बुजुर्ग लोग भी बच्चों को समझाते रहते हैं कि हम लोग निचली जाति से हैं और भगवन ने हमको उच्च जाति की सेवा के लिए पैदा किया है। ऐसे ही लेखिका की दादी भी कहती है। इस अस्पृश्यता का विरोध लेखिका बचपन में ही करती है।

बामा ने जब अपनी पढाई पूरी की तब एक इसाई मठ में स्कूल शिक्षिका बनी लेकिन वहाँ पर भी जातिवाद, भेदभाव आदि को देखकर छः महीने के अन्दर ही उन्होंने वह जगह छोड़ी। बामा को अपने जीवन में शिक्षा से लेकर नौकरी करने तक और बाद में भी अपनी जाति के कारण बहुत बार अपमानित होना पड़ा है। जिन लोगों के कारण उनको अपमानित होना पड़ा है उनमें सहपाठी से लेकर शिक्षक, हॉस्टल वार्डन, सहकर्मी आदि का समावेश है। इन परिस्थितियों में बामा ने अपने आप को एक मुक्काम तक पहुँचाया और अपने दलित समाज को एक नया मार्ग दिया। उनकी प्रेरणा से आज उनके

गाँव एवं आस-पास के गावों से भारी संख्या में दलित लड़कियाँ शहरों में उच्च शिक्षा ले रही हैं, नौकरियां कर रही हैं।

उपरोक्त विश्लेषित एवं नामोल्लेखित सभी भारतीय आत्मकथाओं में लेखक के जन्म से आत्मकथा लिखने तक का परिवेश सामान्य रूप से चित्रित हुआ है। लेकिन 'मैं' के साथ 'वे' भी प्रमुख रूप से उपस्थित हैं। इस परिवेश में दलितों की समस्याएँ भी है, जो आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इनमें सबसे प्रमुख गरीबी, भूख, शिक्षाभाव, अस्पृश्यता, अस्थायी जीवन, शोषण की समस्याएँ हैं। दलित आत्मकथाओं में दलितत्व का एहसास होने के पीछे डॉ. बाबासाहेब के वैचारिक प्रेरणा को बहुत से लेखकों ने स्वीकार किया है। साथ ही यह आत्मकथाएँ दलित आन्दोलन एवं दलितों में मौजूद अंतर्विरोधों को भी अभिव्यक्त करती है। यह आत्मकथाएँ दलितों के लोकसंस्कृति, लोकविश्वास एवं लोकव्यवहार को भी अभिव्यक्त करती हैं, जिससे प्रादेशिक संस्कृति के साथ ही वहाँ के प्राकृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि स्थितियों से परिचित कराती हैं।

दलित आत्मकथाएँ अनुभूति के स्तर पर ही नहीं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य से अलग प्रकार की है। आत्मकथाओं की भाषा दलितों के जीवन से जुड़ी हुई है, जो सहज और सरल है। जिसमें दलितों के जीवन में व्याप्त श्लील, अश्लील, गाली-गलोज भरे शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही जाति के नाम पर सवर्णों द्वारा दी जानी वाली गालियाँ,

उनका दलितों के साथ बात करने का तरीका आदि को चित्रित किया गया है। लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का भी इन आत्मकथाओं में प्रयोग हुआ है।

अंततः हम कह सकते हैं कि भारतीय दलित आत्मकथाएँ दलितों की वास्तविकता का जीवंत दस्तावेज है, जिसको अभिव्यक्त करते हुए कभी-कभी लेखक/लेखिका आक्रोशित एवं विद्रोही हो जाते हैं। लेकिन यह आक्रोश और विद्रोह शोषण, अन्याय-अत्याचार एवं समग्र विषमता के खिलाफ है और समता(समानता) के नजदीक है।

संदर्भ

---

[1] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर,2011 पृ.सं.94-95

[2] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर,2011 पृ.सं.95

[3] सार्वजानिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे, हंस-जुलाई-2004, पृ.सं.32

[4] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, पृ.सं.98

[5] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, कानपुर,2011 पृ.सं.98

[6] अपेक्षा-सं. तेजसिंह, दलित आत्मवृत्त विशेषांक,जुलाई-सितंबर-2003,पृ.सं.31

[7] हंस-सं. राजेंद्र यादव, जुलाई-1996, पृ.सं. 76

[8] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर,2011,पृ.सं.94

[9] दलित साहित्य-एक अंतर्यात्रा-बजरंग बिहारी तिवारी.पृ.सं.174

[10] दलित साहित्य-एक अंतर्यात्रा- डॉ.बजरंग बिहारी तिवारी, पृ.सं.175

[11] नई सदी और दलित. डॉ. सुजाता वर्मा, पृ सं.144-145,

[12] अछूत-दया पवार, अनु.दामोदर खडसे, पृ.सं.59

[13] अछूत-दया पवार, अनु.दामोदर खडसे, ,पृ.सं.49

[14] अछूत-दया पवार, अनु.दामोदर खडसे,. पृ.सं.39

[15] अछूत- दया पवार, पृ.सं.74

[16] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले, अनु. रणसुभे सूर्यनारायण, पृ.सं.07, ,

[17] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.77

[18] मराठी दलित साहित्य:आत्मकथा के मील स्तंभ-गुलाबराव हाडे,पृ.सं.212

[19] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.69

[20] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.43

[21] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.71

[22] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.90

[23] यादों के पंछी-प्र.ई.सोनकाम्बले,पृ.सं.77

[24] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात,अनु.प्रथमवीर केशव,पृ.सं.285, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नई दिल्ली,1987

[25] आम्बेडकरी चळवली आणि साहित्य-यशवंत मनोहर,पृ.सं.140, भीमरत्न प्रकाशन,नागपुर,सं.1999

[26] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.70

[27] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.64

[28] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.76

[29] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.233

[30] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.276

[31] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.50

[32] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड, अनु.रणसुभे सूर्यनारायण,भूमिका,

[33] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड,पृ.सं.10

[34] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड,पृ.सं.13

[35] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड,पृ.सं.15-16

[36] पराया-लक्ष्मण माने,अनु.दामोदर खडसे,पृ.सं.13,
[37] पराया-लक्ष्मण माने,पृ.सं.43,
[38] पराया-लक्ष्मण माने,पृ.सं.107
[39] पराया-लक्ष्मण माने,पृ.सं.95
[40] हिंदी और मराठी दलित साहित्य:एक मूल्यांकन,सुनीता साखरे,पृ.सं.53-54
[41] जीवन हमारा-बेबी काम्बले, अस्थाना ललिता,पृ.सं.106,
[42] जीवन हमारा-बेबी काम्बले,पृ.सं.110
[43] जीवन हमारा-बेबी काम्बले,पृ.सं.108
[44] जीवन हमारा-बेबी काम्बले,पृ.सं.113
[45] जीवन हमारा-बेबी काम्बले,हिंदी अनुवाद की भूमिका
[46] जीवन हमारा-बेबी काम्बले,पृ.सं.132
[47] बखर एक अक्कारमाशीची-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.52-53, अ ब क ड ई पत्रिका-दीवाली अंक, मुंबई 1986,
[48] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, अनु.रणसुभे सूर्यनारायण, पृ.सं.78,
[49] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.112
[50] हिंदी में अनूदित दलित आत्मकथा-डॉ.गोरख काकडे,पृ.सं.303,
[51] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.27
[52] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.105
[53] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.37
[54] छोरा कोल्हाटी का-किशोर शांताबाई काले, भूमीका,अनु.देवस्थले अरुंधती,
[55] अन्त्यज-माधव कोंडविलकर, अनु.अविनाश, पृ.सं.07,
[56] अन्त्यज-माधव कोंडविलकर पृ.सं.15
[57] दलित साहित्याचा इतिहास-म.सु. पगारे, पृ.सं.134-135,
[58] अन्त्यज-माधव कोंडविलकर, पृ.सं.122
[59] अन्त्यज-माधव कोंडविलकर, पृ.सं.19
[60] बेरड -भीमराव गस्ती, अनु.हाडे गुलाबराव, पृ.सं.67, विद्या विहार कानपुर, प्रथम संस्करण-2001
[61] बेरड -भीमराव गस्ती, अनु.हाडे गुलाबराव, पृ.सं.01
[62] बेरड -भीमराव गस्ती, अनु.हाडे गुलाबराव, पृ.सं.50
[63] असीम है आसमां-नरेन्द्र जाधव,अनु.सोनटक्के कमलाकर,ब्रहमात्मज अजय,भूमिका पृ.सं.10,राधाकृष्ण प्र.दि.2006
[64] अम्बेडकरवादी मराठी साहित्य-डॉ.यशवंत मनोहर, पृ.सं.269
[65] असीम है आसमां-नरेन्द्र जाधव,अनु.सोनटक्के कमलाकर,ब्रहमात्मज अजय,भूमिका पृ.सं.189
[66] असीम है आसमां-नरेन्द्र जाधव,अनु.सोनटक्के कमलाकर,ब्रहमात्मज अजय,भूमिका पृ.सं.195
[67] आयदान-उर्मिला पवार, भूमिका
[68] आयदान-उर्मिला पवार,पृ.सं.54
[69] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.176
[70] अपने-अपने पिंजरे भाग 1-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.42
[71] अपने-अपने पिंजरे भाग 1-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.34
[72] अपने-अपने पिंजरे भाग 2-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.12

[73] अपने-अपने पिंजरे भाग 2-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.13
[74] अपने-अपने पिंजरे भाग 1-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.69
[75] अपने-अपने पिंजरे भाग 1-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.70
[76] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.16
[77] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.16
[78] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.34
[79] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.27
[80] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.28
[81] जूठन ओमप्रकाश वाल्मीकि-
[82] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.34
[83] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.19
[84] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.93
[85] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.31
[86] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.24
[87] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.37
[88] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.37
[89] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.28
[90] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.47
[91] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.106
[92] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसी .राम,पृ54.सं.
[93] मुर्दहिया-डॉ.तुलसीराम,पृ.सं.108
[94] मुर्दहया-डॉ.तुलसीराम,पृ.सं.34
[95] मुर्दहिया-डॉ तुलसीराम, पृ.सं.21
[96] मुर्दहिया-डॉ तुलसीराम, पृ.सं.83
[97] मुर्दहिया-डॉ तुलसीराम, पृ.सं.84
[98] मुर्दहिया-डॉ तुलसीराम, पृ.सं.144
[99] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसी .राम,पृ.सं.92
[100] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसी .राम,पृ.सं.178
[101] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसी .राम,पृ.सं.156
[102] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉतुलसी .राम,पृ.सं.126
[103] तिरस्कृत-सूरजपाल चौहान,पृ.सं.48,
[104] तिरस्कृत-सूरजपाल चौहान,पृ.सं.13
[105] तिरस्कृत-सूरजपाल चौहान,पृ.सं.13
[106] तिरस्कृत-सूरजपाल चौहान,पृ.सं.16
[107] अन्यथा, अंक-12, जून,2008,पृ.सं.20 संपादक-कृष्ण किशोर,लुधियाना
[108] अन्यथा, अंक-12, जून,2008,पृ.सं.19 संपादक-कृष्ण किशोर,लुधियाना
[109] अन्यथा, अंक-12, जून,2008,पृ.सं.23 संपादक-कृष्ण किशोर

चतुर्थ अध्याय

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन

भारतीय समाज व्यवस्था में पनपती जातीयता का विद्रूप रूप दर्शाने का कार्य दलित आत्मकथाकारों ने किया है। छुआछूत जैसी कोढ़ की तरह बढ़ती बिमारी समाज को किस हद तक विद्रूप एवं भयानक बना चुकी है इसका एहसास दलित आत्मकथाओं को पढ़ने के उपरांत बड़ी शिद्दत से होता है। दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता रही है कि ये आत्मकथाएं विशिष्ट व्यक्ति(आत्मकथाकार) की आपबीती होते हुए भी वह विशिष्ट व्यक्ति तक सीमित न रहकर आत्मकथाकार के समाज की कहानी बन जाती है। प्रत्येक आत्मकथा व्यष्टि से शुरू होकर समष्टि का रूप धारण कर लेती है। वैसे डॉ.राय पास्कल ने आत्मकथा के सन्दर्भ में कहा है कि "आत्मकथा समष्टि में से व्यष्टि को उभारने का प्रयास है।"[1] यह परिभाषा सामान्यतः मुख्यधारा की आत्मकथाओं के साथ बखूबी लागू हो सकती है लेकिन दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में नहीं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि दलित आत्मकथा की शुरुआत भले ही 'मैं' से होती हो अंत तक आते-आते 'हम' का स्वरूप धारण कर लेती है। दलित आत्मकथा व्यष्टि से समष्टि ओर जाती हुई दिखाई देती है। भी प्र 'वे' के साथ 'मैं'मुख रूप से उपस्थित हैं । इस परिवेश में दलितों की समस्याएँ भी है जो आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इनमें सबसे प्रमुख गरीबीशोषण की समस्याएँ ,अस्थायी जीवन ,अस्पृश्यता ,शिक्षाभाव ,भूख ,

हैं। दलित आत्मकथाओं में दलितत्व का एहसास होने के पीछे डॉ. बाबासाहेब के वैचारिक प्रेरणा को बहुत से लेखकों ने स्वीकार किया है। साथ ही यह आत्मकथाएँ दलित आन्दोलन एवं दलितों में मौजूद अंतर्विरोधों को भी अभिव्यक्त करती है । यह आत्मकथाएँ दलितों के लोकसंस्कृति , जिससे प्रादेशिक ,लोकविश्वास एवं लोकव्यवहार को भी अभिव्यक्त करती हैं संस्कृति के साथ ही वहाँ के प्राकृतिकधार्मिक आदि ,ऐतिहासिक ,भौगोलिक , स्थितियों से परिचित कराती हैं।

4.1 आत्मकथाओं में चित्रित देशकाल वातावरण

दलित साहित्य के सन्दर्भ में जिस एक बात ने वृहत पाठक वर्ग को सर्वाधिक चौंकाया और आकर्षित किया वह थीं दलित लेखकों की आत्मकथाएँ। साठ के दशक में दलित आत्मकथाओं का आना किसी जलजले से कम नहीं था। पहले यह तूफान मराठी (महाराष्ट्र) में आया फिर हिंदी साहित्य में। साहित्य में इसे हम परिवर्तन का क्रांतिकारी दौर भी कह सकते हैं। सामाजिक बदलाव की इस धारा का किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध भी। विरोध तो खास तौर से उच्चवर्ण के लोगों द्वारा हुआ चूँकि उनकी सामाजिक स्थिति को धक्का लग गया था। मुख्यधारा का हिंदी और मराठी साहित्य, साहित्य को समाज का दर्पण मानता है लेकिन क्या उस दर्पण में दलित समाज का चेहरा दिखाई देता है? नहीं..... क्योंकि हजारों वर्षों से उच्चवर्ण की गुलामी करने वाले दलितों को तथाकथित उच्चवर्ण के समाज ने

बहिस्कृत कर के रखा है। इन बहिस्कृत दलित समुदाय के सन्दर्भ में कोई सवर्ण क्यों लिखेगा? और अगर कोई लिखेगा तब वह दलित समुदाय का ऐसा चेहरा सामने लायेगा जो वास्तव में होता नहीं है जैसे दलित कामचोर होते हैं, वे गंवार होते हैं आदि। लेकिन लिखनेवाले सवर्ण लेखक यह नहीं सोचते कि उनकी यह स्थिति किसने की है। इस सन्दर्भ में वे खामोश बैठते हैं। इसलिए आज तक मुख्यधारा के हिंदी और मराठी साहित्य में समाज का वास्तविक चित्र सामने नहीं आया। लेकिन जब दलित लेखकों की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई तब उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र का सामाजिक इतिहास ही प्रस्तुत कर डाला। उसके बाद ही समाज का वास्तविक चेहरा सामने आया है। इन आत्मकथाओं में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक समस्याओं का चित्रण भी लेखकों ने किया है।खास तौर से सामाजिक स्थितियों पर दलित लेखकों का ध्यान गया है। दरअसल, साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन के दो दृष्टिकोण हैं- एक, समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य का अध्ययन और दूसरा है- लेखक के सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से अध्ययन। इस अध्ययन में दोनों दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है।

भारत विविधता से सम्पन्न एवं परिपूर्ण देश माना जाता है। लेकिन इस इस सम्पन्नता एवं परिपूर्णता में एक खालीपन दिखाई देता है, वह अस्पृश्य लोगों का है। आज भी जाति-पाति के भेद के निचे दबा एक हिस्सा भारत में अस्पृश्यता, भूख, दारिद्र्य के साथ संघर्ष कर रहा है। भारत को स्वतंत्रता मिली पर इन्हें आज भी पूर्ण स्वतत्रंता नहीं मिली। आज भी वे सामूहिक

अन्याय-अत्याचार, बलात्कार, शोषण से पीड़ित हैं। “दलित समाज को उनके अस्मिता का, उनके मनुष्य होने का, सामाजिक विषमता में उन पर होने वाले अन्याय का, अस्पृश्य जीवन की यातनाओं का तीव्र एहसास, प्रमुखत: डॉ.बाबासाहेब के कारण ही आया है।”[2] और इसी एहसास की निष्पत्ति मराठी दलित आत्मकथाएं हैं, जो दलित जीवन के सामाजिक पक्ष को बड़ी प्रखरता से यथार्थ रूप में सामने लाने का काम करती हैं।

दलित साहित्य की शुरुआत मराठी से होती है। अत: दलित आत्मकथा का प्रारंभ भी मराठी से हुआ है। मराठी दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत गंगाधर पानतावने व्दारा संपादित पत्रिका ‘अस्मितादर्श’ ई.स.1976 के दीपावली विशेषांक में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद से मानी जाती है, जिसमें मराठी के प्रसिद्ध दलित लेखकों के ‘मैं और मेरा जीवन’ शीर्षक से संक्षिप्त आत्मकथ्य प्रकाशित हुए थे। ठीक उसी तरह हिंदी के दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत प्रसिद्ध दलित लेखकों के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद ही हुई। डॉ. आंबेडकर ने अपना कोई आत्मवृत्त नहीं लिखा लेकिन एक आत्मकथ्य जरूर लिखा था जो ‘मेरा जीवन’ शीर्षक से ‘जनता’ पत्र में 6 नवंबर, 1954 के अंक में प्रकाशित हुआ था। दलित आत्मकथा के लेखन इतिहास के बारे में यह बात स्पष्ट होती है कि डॉ. आंबेडकर के ‘मेरा जीवन’ नामक आत्मकथ्य लिखने के बाद आगे न उन्होंने अपने जीवन को आत्मकथा के रूप में शब्दबद्ध किया और न किसी दुसरे लेखक ने वैसा प्रयास किया है। डॉ.अम्बेडकर के देहांत के बाद लगभग बाईस

साल बाद मराठी दलित साहित्य के प्रमुख लेखक दया पवार ने ई.स. 1978 में 'बलुतं'(अछूत) नामक आत्मकथा लिखी है।

दलित साहित्य ने न केवल साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है अपितु साहित्य की दुनिया को व्यक्ति, समाज, धर्म, राष्ट्र आदि को देखने और समझने की एक नयी दृष्टि दी है। दलित आत्मकथा लेखन ने साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध कर उसे एक नया आयाम दिया है। दलित साहित्य में आत्मकथाएं ही सर्वाधिक चर्चित हैं। दरअसल, दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता है कि एक आत्मकथा मात्र उसके लेखक की, एक दलित व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होती, अपितु कहीं न कहीं वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है। क्योंकि भले ही दलित आत्मकथा में आत्मथाकार द्वारा भोगी हुई यातना, अभाव, अपमान और संघर्ष का चित्रण होता है किन्तु दलित समाज के समस्त लोग किसी न किसी स्तर पर कम या ज्यादा जातीय अपमान,घृणा, उपेक्षा और वंचना के शिकार होते हैं। इसलिए दलित आत्मकथाकार के जीवन का यथार्थ समस्त दलित समाज का सच होता है। आत्मकथा का आधार यथार्थ होता है और दलित आत्मकथाओं में समाज द्वारा दलितों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय-अत्याचार, असमानता, जातिगत भेदभाव, शोषण और अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। अधिकांश दलित आत्मकथाओं में यह सब चित्रित है, इसलिए साहित्य के साथ-साथ ये आत्मकथाएं भारतीय समाज का इतिहास भी है। दलित आत्मकथाओं में दर्ज इतिहास भारतीय समाज की उस अमानवीयता और असहिष्णुता का

इतिहास है, जिसका उल्लेख इतिहास के ग्रंथों में नहीं है। इस दृष्टिकोण से देखें तो दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में मानवीय चेतना और क्रांति का सूत्रपात किया है।

4.2 दलित आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और समस्याएँ

'दलित' शब्द को समाज में आर्थिक दुरावस्था,ग़रीबी से पीड़ित जनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। ये वे लोग हैं जिन्हें सदियों से वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर सामाजिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा है। सर्वप्रथम अंग्रेजी सरकार ने 1933 में जब 'Depressed Classes' समाज के लोगों में कुछ सुविधाएँ दी थीं तब पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। 'Depressed Classes' में अस्पृश्य समाज के साथ आर्थिक रूप से पिछड़े व गरीब लोगों को सूची में रखा गया। इस प्रकार सामाजिक व आर्थिक रूप से शोषित, पीड़ित, वंचित, दमित व कुचला हुआ वर्ग दलित वर्ग माना गया।

भारतीय समाज में सदियों से सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रूप से उत्पीड़ित वर्ग ने अत्याचार व शोषण के खिलाफ सवाल-जवाब करना व अपने अधिकारों की मांग करना शुरू किया, वहीं से दलित अस्मिता की

शुरुआत होती है। एक समय था जब यह उत्पीड़ित वर्ग अपनी व्यथा एवं पीड़ा को अपने भाग्य की नियति मानकर चुप रह जाता था। उसके बाद इस वर्ग ने अपनी पीड़ा को एक-दूसरे से कहना-सुनना शुरू किया, लेकिन अब उसने अपनी पीड़ा को लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति देना शुरू किया। इसी उत्पीड़ित वर्ग से आयें लेखकों ने अपने विचारों से एक ऐसा आंदोलन खड़ा कर दिया जिसने इस वर्ग को शोषणकारी शक्तियों के खिलाफ अपने मानवीय अधिकारों व अस्तित्व के प्रति लड़ने व जूझने की ऊर्जा प्रदान की।

दलित वर्ग ने साहित्य लेखन को अपनी अस्मिता व पहचान का हथियार बनाया। दलितों के अपने अधिकारों के लिये संघर्ष से ही साहित्य का जन्म हुआ। दलित साहित्य के बारे में चर्चा करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है- “दलित साहित्य पीड़ा, वेदना, मुक्ति का ही साहित्य नहीं बल्कि अपने अधिकारों, अस्मिता और पहचान के लिये संघर्ष करने वालों का भी साहित्य है।”[3] इस प्रकार मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य के माध्यम से दलित अस्मिता को व्याख्यायित करते हैं। उनके मतानुसार दलित अस्मिता में अपने स्वाभिमान को हासिल करने के लिये भीख व अनुनय का सहारा लेकर नहीं बल्कि अपने लिये न्यायपूर्ण अधिकारों व हक़ की लड़ाई लड़ना है जिसके लिये यह शोषित व उत्पीड़ित समाज कलम व कागज को माध्यम बनाता है।

दलित साहित्य को मानवीय सरोकारों व संवेदनाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति बताते हुए वरिष्ठ दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने

लिखा है- “दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर(Mas Literature)। सिर्फ इतना ही नहीं लिटरेचर ऑफ़ एक्शन(Literature of Action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।”[4] इस प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि भी दलित साहित्य को दलितों पर सदियों की गुलामी व यातना के विरुद्ध संघर्ष व विद्रोह का परिणाम मानते हैं।

समाज में लम्बे समय से हाशिये की जिंदगी बिता रहा वर्ग दलित वर्ग है। यह वर्ग लम्बे समय से ईश्वर की विकृत अवधारानाओं, रूढ़ियों, अन्यायों, अंधविश्वासों से मुक्त होने के लिए संघर्ष करता रहा है। मुक्ति की यही छटपटाहट दलित साहित्य में क्रोध, घृणा, प्रहार के रूप में आती है। दलित लेखक अपने जीवन के अनुभवों से दलित अस्मिता का नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ रहे हैं।

वर्षों से अपने अधिकारों से वंचित दलित समाज अब बोलने लगा है। प्राचीन भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति को इंगित करते हुए एस.सी. दुबे ने लिखा है की “समाज में इनको हर वक्त अपमानित किया जाता था। यदि कोई इन्हें छू जाता तो उसे कपडे सहित स्नान करना पड़ता था। यहाँ तक कि अछूत जाति के लोगों को अपना घर, सवर्णों के घर से दूर

बनाने का निर्देश था तथा मंदिर और गाँव की निश्चित सीमा के अंदर प्रवेश करने का अधिकार नहीं था।"[5] नवजागरण के समय समाज व धर्म धर्म सुधार आंदोलनों से व अंग्रेजों के जमाने में हुए आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों से दलितों की स्थिति में सुधार हुआ। उन्हें पहली बार अपनी अस्मिता व अपने अधिकारों की पहचान हुई और उन्होंने ऊंची जातियों के अधिकार पर सवाल उठाने शुरू कर दिये। अपने क्रोध व प्रतिरोध को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया। औपनिवेशिक भारत में दलितों की सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ। इसी संदर्भ में राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि "यह सच है कि दलितों और स्त्रियों के लिए मुक्ति मार्ग पहले व्यापार ने और फिर अंग्रेजों ने खोले। उपनिवेश पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए उन्होंने भौगोलिक सर्वेक्षणों के द्वारा नक़्शे तैयार किए, तो दूसरी ओर मर्दम शुमारी की प्रक्रिया द्वारा सारे देश की जातियों, धर्मों,भाषाओँ और अन्य विशिष्टताओं की पहचान की। हर वर्ग और क्षेत्र के लोगों को अपनी स्थिति और संख्या की वास्तविक जानकारी इसी जनगणना से मिली। राष्ट्र की परिकल्पना में इस भूगोल और आबादी के स्वरूप का बहुत बड़ा हाथ है। दूसरी थी लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रारंभ। सही है कि इंग्लैंड में जो डेमोक्रेसी थी, उपनिवेशों में ठीक वहीं नहीं थी। मगर प्रशासन और कानून की दृष्टि में एक ब्राह्मण और शूद्र दोनों बराबर थे, उधर ईसाई धर्म भी इसी समता की बात करता था कि शिक्षा, जीविका या रहन-सहन के सबको एक ही अधिकार होने चाहिए यह सिद्धांत अपने

आप में क्रांतिकारी और जड़ हिन्दू समाज को बौखला देने के लिए काफी था।”6

बीसवीं सदी में स्वतंत्र भारत के संविधान ने दलितों को भले ही अधिकार दे देये हैं लेकिन आज भी देखते हैं कि न सिर्फ गांवों में बल्कि शहरों में भी यह वर्ग नरक की जिंदगी को जीने को विवश है। भारतीय समाज में वंश और श्रम के आधार पर भेदभाव व विरोध का इतिहास पुराना है। आज भी दलित समाज पशू से भी बद्तर जिंदगी जीते हुए अपने अस्तित्व व अस्मिता के लिए संघर्षरत है। आज भी स्वतंत्र भारत में संवैधानिक कानून होने के बावजूद भी इस वर्ग को सार्वजनिक जगहों, से पानी भरने व धार्मिक स्थलों पर जाने की मनाही है। अपनी अस्मिता, आत्म-सम्मान, व स्वाभिमान के लिए आज भी दलित समाज संघर्ष कर रहा है।

डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर की विचारधारा दलित साहित्य का प्रस्थान बिंदु है। डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर दलित के प्रेरणास्त्रोत है। डॉ. आंबेडकर ने दलितों को न केवल उनके आत्म-सम्मान, अस्मिता व स्वाभिमान का अहसास कराया बल्कि भारतीय समाज में अपना स्थान भी दिलाया। मार्क्सवाद जहाँ सामाजिक विषमता के मूल में आर्थिक विषमता को कारण मानता है, वही डॉ.आंबेडकर का मानना था कि मात्र आर्थिक विषमता अछूतों की भयावह स्थिति के लिए मूल कारण नहीं है। उनकी दुरावस्था के लिए सामाजिक रचना, शास्त्र, धर्म तथा अनेक इकाइयाँ जिम्मेदार हैं, उनमें अर्थ भी एक

कारण है, एक मात्र कारण नहीं। इस प्रकार डॉ. आंबेडकर आर्थिक विषमता, पूंजीवादी व्यवस्था के साथ हिन्दुओं की सामंतवादी मानसिकता को भी अछूतों की स्थिति के लिए कारणीभूत मानते हैं।

डॉ.आंबेडकर के राजनीतिक व सामाजिक विचारों का केंद्र बिंदु समाज की आखिरी सीडी पर बैठा हुआ, सभी ओर से पीड़ित, शोषित व नकारा गया मनुष्य है। उनका मानना था कि इसी मनुष्य के स्वाभिमान, अस्मिता व इसके अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीति की जानी चाहिए। अस्मिता, स्वाभिमान व मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिये डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने 'पढ़ो, संगठित हो जाओ और संघर्ष करो' ये तीन सूत्र दिये। दलित साहित्य इनके इन तीन सूत्रों को सामाजिक अस्मिता, स्वाभिमान व स्वतंत्रता के रूप में स्वीकार करता है। दलित साहित्य में जो विद्रोह व नकार की चिंगारियाँ हैं वे डॉ. आंबेडकर के व्यक्तित्व व विचारों से ही प्राप्त है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों को ही दलित साहित्य प्रस्थान बिंदु के रूप में स्वीकार करता है।

स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक संविधान ने दलितों को भले ही सारे मानवीय अधिकार दे दिये हो लेकिन आज भी मुख्यधारा का समाज उनको पूर्णत: अपना नहीं रहा है। दलितों ने अपनी अस्मिता व उत्पीड़न की पहचान को लड़ने का कारगर हथियार बनाया है। इसके माध्यम से वे सदियों से चले आ रहे उत्पीड़न व भेदभाव को समाप्त कर एक ऐसे समाज की स्थापना

चाहते हैं जिसमें सबको बराबर का सदस्य माना जाएगा, जिसमें कोई दलित और पीड़ित नहीं रहेगा। जन-आंदोलनों एवं राजनीति में आयें तमाम बदलावों ने दलितों के भीतर एक विवेक पैदा किया है कि इस शोषण पर आधारित समाज को नष्ट करके समतामूलक समाज स्थापित किया जा सकता है। जहाँ परम्परागत समाज-व्यवस्था में दलितों की सामाजिक अस्मिता व मानवीय अधिकार के सभी दरवाजे बंद थे, वहीं आज धन, धर्म, शिक्षा, अधिकार, अस्मिता व सम्मान का भूखा यह वंचित समाज शिक्षित होकर अपनी अस्मिता व अधिकारों के प्रति जागरूक होता दिखाई दे रहा है। दलित साहित्य में खास कर दलित आत्मकथाओं में सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्रण हुआ है। इन आत्मकथाओं में लेखकों ने अपनी सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। जिसको हम यहाँ पर देखेंगे।

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में वैषम्यमूलक सामाजिक यथार्थ है। यह आत्मकथाएं दलित समाज के अभाव एवं शोषण को अभिव्यक्त करती है, साथ ही शोषण की सम्पन्नता एवं दंभ को भी उजागर करती है। समता, स्वतत्रंता और बंधुत्व की विषमता के बारे में ‘उचक्का’ में लक्ष्मण गायकवाड लिखते हैं- “मराठी की पहली कक्षा में था। पुस्तक का पहला पृष्ट मैं खोलता उस पर लिखा हुआ था ‘भारत मेरा देश है। सारे भारतीय मेरे बंधु हैं। मुझे इस देश की परम्परा पर अभिमान है।’ मुझे लगता अगर यह सब कुछ सही है, तो फिर हमें बिना अपराध के पिटा क्यों जाता है? माँ को पुलिस क्यों पिटती हैं? उसकी साड़ी पकड़कर यह क्यों कहते हैं कि साड़ी हमारे सचोरी की है। मुझे

लगता है कि अगर भारत मेरा देश है, तो फिर हमारे साथ ऐसा बर्ताव क्यों किया जाता है? सभी भारतीय अगर भाई हैं, तो फिर मेरे भाईयों को काम क्यों नहीं दिया जाता? हमें खेती के लिए जमीन क्यों दी जाती? रहने के लिए अच्छा मकान क्यों नहीं मिलता? अगर सब भाई हैं, तो मेरे भाईयों को घर का खर्चा चलाने के लिए, पुलिस को रिश्वत देने के लिए चोरी क्यों करनी पड़ती है?"[7] वही 'तराल-अन्तराल' में शंकरराव खरात लिखते हैं- "ब्राह्मणवादियों के लडके मजे के साथ देवालय के अन्दर-बाहर खेलते दौड़ते थे। हम महारों के लड़कों को मंदिर के अन्दर जाना मना था।"[8] दया पवार इस सामाजिक विषमता पर यथार्थ प्रकाश डालते हुए 'अछूत' में कहते हैं- "शेक्सपियर कहता है, नाम में क्या रखा है? पर मेरे ही हिस्से 'दगडू' नाम क्यों कर आये! धरती के जिस टुकड़े पर जन्म लिया, वहाँ सभी के इसी प्रकार नाम हैं- कचरू, धोंद्या,सटवा, जवा...सब इसी तरह। ...मनुस्मृति में शूद्रों के नामों की सूची देखी- इसी प्रकार तुच्छता दर्शी। ब्राह्मण के नाम विद्याधर,क्षेत्रियों के नाम बलराम, वैश्यों के लक्ष्मीकान्त और शूद्रों के शूद्रक,मातंग। वही बीसवीं सदी में भी जारी है।"[9] शरणकुमार लिम्बाले अपने जाति विहीन होने का परिचय इस प्रकार देते हैं – "मेरी माँ अछूत तो पिता सवर्ण । माँ झोपड़ी में पिता कोठी में, पिता जमींदार, माँ भूमिहीन । और मैं ? अक्करमाशी ।"[10] दलित जीवन में सबसे ज्यादा जाति के पहचान का दंश सहना पड़ता है । लेखक को उसका अनुभव शिक्षा ग्रहण करते समय होता, मोहनदास नैमिशराय कहते हैं- "स्कूल में पढ़ने वाले सभी बच्चों के यूँ नाम

होते थे लेकिन सवर्ण जाति के मास्टर उन्हें उनके नाम से नहीं पुकारकर अंट-शंट नामों से बुलाया करते थे । किसी बच्चे की अगर नाक बहती हो तो उसे रैट्टल, फैफ्फल, कहकर पुकारा जाता । कोई मोटा हुआ तो उसे मोटू, किसी के सिर पर बाल न हो तो गंजा या गंजे, आंख ख़राब हो तो काना या काने, टांग ख़राब होने पर लंगड़ा या लंगड़े आदि के रूप में संबोधन किया जाता था । अबे-तबे के बिना तो मास्टर बात ही नहीं करते थे । यही नहीं, माँ-बाप के नाम से भी अधिकतर बच्चों को बुलाया जाता था।"[11] स्कूल में बर्तन छूकर पानी पीने की आजादी नहीं और सवर्ण छात्र द्वारा उनके लिए पानी देने की विधा में आनंद ले लेकर कपडे भिगोते जाना भद्दे मजाक से कम नहीं था-। डॉ.तुलसीराम कहते हैं -''हम अंजुरी मुंह से लगाए झुके रहते, और वे बहुत ऊपर से चबूतरे पर खड़े-खड़े पानी गिराते। वे पानी बहुत कम पिलाते थे किंतु सिर पर गिराते ज्यादा थे जिससे हम बुरी तरह भीग जाते थे।पानी पीना ... वास्तव में एक विकट समस्या थी।''[12] यह कल्पना की चीज नहीं, दलित समाज की हकीकत है – "पूरी के बचेखुचे टुकड़े-, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बांछें खिल जाती थीं। जूठन चटकारे लेकर खाई जाती थी।"[13] लेखकों ने इन आत्मकथाओं में सवालों की झड़ी लगाई है । जिसका उत्तर समाज व्यवस्था के पास नहीं है। ये हैं, दलित आत्मकथाओं में चित्रित दलित और सवर्ण समाज के जीवन का वैषम्य इसके अलावा ऐसे अनेक बिंदु हैं, जो आत्मकथाओं में स्पष्ट होते हैं। एक घोड़े पर

बैठता है तो दूसरा घोड़े के साथ भागता है। एक भर पेट खाता है तो दूसरा उसके जूठन की राह ताकता है। एक के जानवर जहाँ पानी पीते हैं, वहाँ दूसरा पानी तक नहीं पी सकता, एक महल, वाडे बनाकर रहता है, तो दूसरा बंजर भूमि में गाँव से दूर अपना कबीला बसाता है। एक बड़े-बड़े भ्रस्टाचार, चोरियाँ करके सन्मान का जीवन जीता है, तो दूसरे जुआर दो भुट्टे तोड़ने की वजह से बांधकर जानवरों की तरह मारा जाता है। संक्षेप्त में कह सकते हैं कि एक और सम्पन्नता, समृद्धि, अधिकार और श्रेष्ठत्व की भावना है, तो दूसरी ओर निम्नत्व की भावना है। इस संबंध में 'तराल-अंतराल' की भूमिका में दुर्गा दीक्षित लिखती हैं, "तिरस्कृत,पददलित, शोषित, अभावग्रस्त परिवार में जन्म लेने के कारण समाज समाज द्वारा निर्मित मानवता रहित विषम परिस्थितियों में गुजरना जिसकी नियति रही उन्हें उन जीवन की विषमताजन्य घोर स्थितियों को सहना ही पड़ा।"[14] इस तरह विषमताजन्य परिस्थियाँ सिर्फ शंकराव खरात के आत्मकथा में ही नहीं बल्कि सभी हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में दिखाई देती हैं। दलित आत्मकथाकार ऐसी सामाजिक स्थिति में जीवनयापन करता है।

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में अस्पृश्यता, भूख और ग़रीबी दलित समाज की केन्द्रीय समस्याएँ हैं, जो आज भी दलित समाज में दिखाई देती हैं। अपृश्यता की समस्या केवल उन आत्मकथाओं में है, जो 'अस्पृश्य' समझी जानेवाली जातियों के लेखकों द्वारा लिखी गयीं है। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने कहा है कि दलितों की दैनीय अवस्था का एकमात्र कारण शिक्षा

का अभाव है। डॉ.आंबेडकर के चिंतन के कारण और उन्होंने बताये शिक्षा के महत्व के कारण दलित पढ़ने लगे। दलितों का यह बदलाव सवर्णों को खटकने लगा। इनकी शिक्षा में सवर्ण बाधा डालने लगे। जिस तरह से गाँव में अछूतों के साथ व्यवहार किया जाता था ठीक उसी प्रकार पाठशाला में भी होने लगा। अधिकतर शिक्षक सवर्ण ही थे। दलित विद्यार्थियों का स्पर्श भी वे बर्दाश्त नहीं करते थे। सवर्ण विद्यार्थी भी उसी प्रकार का व्यवहार दलित विद्यार्थी के साथ करते थे। ज्ञानार्जन जैसा पवित्र व्यवहार भी इस देश में जाती के आधार पर ही होता है। इसके अत्यंत भयानक अनुभव दलितों के हिस्से आए हैं, यह आत्मकथाओं के माध्यम से स्पष्ट होता है।

बहुतांश आत्मकथा लेखकों को अपृश्यता का अनुभव अपने शालीय(स्कूल) जीवन से ही होता है। स्कूल में सहपाठी और शिक्षक ही दलित लेखकों को यह एहसास करवाते है कि तुम अस्पृश्य हो। हिंदी दलित आत्मकथाओं में, मोहनदास नैमिशराय 'अपने-अपने' में लिखते हैं-"स्कूल तक जाने के लिए ढंग का ट्रेस कहाँ से लाते। वैसे ही गंदे फटे कपडे में वे चले जाते तो मास्टर कहते 'अब तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है। बस जूते, चप्पल बनाओ और आराम से रहो। चले आते हैं ससुरे जाने कहाँ-कहाँ से।"[15] ग़रीबी का भी जिक्र लेखक यहाँ शिक्षा के साथ-साथ करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा 'जूठन' में अस्पृश्यता के अनुभव को लिखते है कि "त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े का' कहकर चिड़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अन्तर्मुखी

चिडचिडा, तुनक मिजाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े होकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बवेला हो जाता था। लडके तो पिटते ही थे। मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सजा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाएं जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊं, मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार स्कूल आना मेरी अनाधिकार चेष्टा थी।”[16] वे आगे लिखते हैं- “कभी-कभी लगता है जैसे क्रूर और आदिम सभ्यता में साँस लेकर पले बढ़े है।”[17] कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में जब लेखिका साईकिल से स्कूल जा रही होती है तब लोग उन्हें कहते हैं-“ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो इसका बाप तो भिखमंगा है।”[18] जातियों का जहर सवर्णों के मन में ठूंस-ठूस कर भरा है। वे दलितों को आगे जाते हुए देख ही नहीं सकते। यह मानसिकता भारत के हर कोने में देखने को मिलेगी।कोई दलित पढ़लिखकर आगे बढ़ता है तो उसे गालियाँ दी जाती है। उसे हर जगह अपमानित किया जाता है। ‘तिरस्कृत’ आत्मकथा में लेखक(सूरजपाल चौहान) सवर्णों की मानसिकता का परिचय देते है। वह इस प्रकार है-“साले चूहड़े-चमार पढ़-लिखकर आगे बढ़ते जा रहे हैं। जगजीवन राम चमार को देखो रक्षामंत्री के पद तक पहुँच गया।”[19] वही मराठी दलित आत्मकथा ‘तराल-अन्तराल’ में शंकरराव खरात लिखते हैं-“आज पहले ही दिन स्कूल आया और ये छुआछूत करने लगे। ढेड कहीं के! क्या समझा है तूने? यहाँ पाठशाला है कि महार बस्ती ? फिर ऐसी हरकत की तो समझ लो तेरी हड्डी-पसली एक कर

दूंगा।...मास्टर ने फिर गरजती आवाज में कहा, 'ए महार के ! नीचे बैठ और ध्यान रख, यह पाठशाला है, महारवाडा नहीं। मैं नीचे बैठ गया। इस तरह पाठशाला में मुझे पहला पाठ पढ़ाया गया।"[20] अपृश्यता के अनुभव को शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं-"स्कूल कभी विठोबा अथवा महादेव के मंदिर में लगा करता था। स्कूल के भीतर, मतलब मंदिर में ब्रह्मणों तथा वैश्यों के लडके बैठते थे। पहली कतार में एक ओर लडके, दूसरी ओर लड़कियां उनके पीछे चमारों के लड़के और सबसे पीछे महार लोगों के दरवाजे के निकट।"[21] यह आत्मकथाएं हर स्तर पर बरतनेवाली अस्पृश्यताओं की बाते करती हैं। अस्पृश्यता एवं जातिगत भेदभाव को इन आत्मकथाकारों को बचपन से लेकर प्रतिष्ठा हासिल करने के बाद भी सहनी पड़ती है।

इसके अलावा दलित आत्मकथाओं में अस्पृश्यता का जो स्वरूप रहा है वह संक्षेप इस तरह से है- दलितों को सामाजिक पनघट पर पानी न भरने देना, मंदिर में प्रवेश न देना, किराये से घर न देना, स्कूल में सवर्ण बच्चों के साथ बैठने न देना, नाई व्दारा बाल न काटना, शिक्षक द्वारा स्पर्श न करना, हाटेल में अलग कप रखना आदि।

मराठी और हिंदी आत्मकथाओं में भूख और ग़रीबी का मानो चोली दामन का साथ हो, हमेशा साथ-साथ रहते हैं। आत्मकथाओं में में चित्रित भूख यह लैंगिक न होकर अन्न की है। दलितों के जीवन में जो भी समस्याएं आती है वह अधिकतर आर्थिक जीवन से संबंधित है। जिन्हें सभी हकों से वंचित रखा

जाता है, उन्हें कहाँ से आर्थिक रास्ते निर्माण होंगे? उन्हें जमीन, जायजाद, आभूषण-अलंकार, व्यापार, शिक्षा, नौकरी आदि से परंपरा से अथवा शास्त्रों का धाक दिखाकर धमकाया जाता है। दलित अशिक्षित अंधश्रद्धालु होने के कारण जो नशीब में है वह भगवान ने दिया है, इसे तोड़ना पाप है यह मानकर चुपचाप जिंदगी जीते रहेते हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि दलितों को सभी मानवीय अधिकारों से दूर ही रखा गया था। डॉ.सुनीता लिखती है-"दलित आत्मकथाओं की एक बड़ी ख़ासियत यह है कि वे दलित समाज की हालत को देखने-परखने के लिए एक जरूरी गवाही या इमानदार साक्ष की भूमिका अदा करती है, प्राय: सभी दलित आत्मकथा लेखकों ने बाड़े में बंद पशुओं जैसे अपने घोर नारकीय जीवन का खुलकर चित्रण किया है। कैसे भूख और अभाव के घेरे में वे घुट-घुट कर जीते रहे हैं, या कैसे मरे जानवरों का मांस खा-खा कर पले हैं। यहाँ तक कि पेट की आग बुझाने के लिए चोरी-चकारी भी करनी पड़ी है, इस बात को भी उन्होंने नहीं छुपाया। किसी जानवर के मरने पर कैसे पूरी बस्ती में जश्न का का-सा माहौल पैदा हो जाता है, और कभी उसके मांस के बंटवारे को लेकर झगड़े भी होते हैं, दलित आत्मकथाओं के ये दृश्य पढ़कर अगर किसी को गुहावासी आदिमानव की याद आए तो अचरज नहीं होना चाहिए।"[22] जिसका प्रत्यय सभी आत्मकथाओं में होता है। आज भी अनेक दलितों की स्थिति गाँव में बदली नहीं है, आज भी उन्हें भूख और ग़रीबी का सामना करना ही पड़ता। अपने-अपने पिंजरे में मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं-"एक दिन मंदिर के बाहर प्रसाद लेते समय

पुजारी की उँगलियाँ जब मेरे हाथ से छू गई तो पुजारी ने गुस्से और घृणा से कहा था-तू चमार है न, सब भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढेरों से प्रसाद दूर से लिया करें"[23] ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-"शादीविवाह के -दाल बनते थे-मौकों पर जब उनके घरों में चावल, तो हमारी बस्ती के बच्चे बर्तन लेकर मांड लेने दौड़ पड़ते थे। फेंक दिया जाने वाला मांड हमारे लिए गाय के दूध से ज्यादा मूल्यवान था।"[24] 'पराया' में लक्ष्मण माने और उनकी पत्नी शशि अपने पडोसी मुसलमान के यहाँ विवाह भोज का आमंत्रण होने की वजह से दिन भर पानी पीकर रहते हैं, पर देर रात होने के बाद भी उन्हें खाने के लिए नहीं बुलाया जाता तब वह कूड़े में फेका जूठन ढूंढते हैं, पर वहाँ भी उनके हाथ नैराश्य ही आता है। भूक को मिटाने के लिए शरणकुमार की दादी संतामाय जानवरों के गोबर से जुआर निकालकर खाती है, और अपने पोते-पोतियों को भीख लाकर खिलाती है। शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं-"संतामाय आँचल में रोटी लिये आती। मुझे लगता वह दौड़ते हुए क्यों नहीं आती। वह मेरे सामने बंद आँचल खोल देती। उसमें गाँव की किसी सहृदया के घर की जूठन होती, रोटी की टुकड़े, अचार, बेसन की सब्जी सब देखकर मुंह में पानी भर जाता। मैं बड़े चाव से खाता। वह अन्न अमृत की तरह लगता। संतामाय का आँचल स्वर्ग की तरह महसूस होता।"[25] वही लक्ष्मण गायकवाड चक्की की पाटों को लगा आटा चाटकर खाते हैं। उचक्का में लक्ष्मण गायकवाड लिखते हैं-"इमली के बीज या आम की गुठलियाँ इकट्ठी करता और उन्हें

भूनकर खाता। कभी-कभार बाबा या दादा किसी दूसरे गाँव जाकर सूअर के किसी पिल्ले को पकड़कर ले आते। उसे भूनकर सब लोग खा लेते। पेट की इस आग से परेशान हो मैं कई बार चक्की के दो पाटों पर नमक छिड़कर कर उन्हें चाटता।”[26] प्रल्हाद ईरनाक सोनकाम्बले रोटी के एक टुकड़े के लिए मरे हुए कुत्ते को उठाने का काम करते हैं। हिंदी और मराठी की लगभग सभी दलित आत्मकथाओं में भूख की आग को प्रमुखता से दिखाया गया है।

मराठी और हिंदी दलित आत्मकथाएं दलित समाज को ग़रीबी के कारण मूलभूत सविधाएँ- रोटी, कपड़ा, मकान भी न मिलाने के वास्तव को हमारे सामने रखती हैं। शंकरराव खरात अपनी आत्मकथा ‘तराल-अन्तराल’ में लखते हैं-“गरीब के पेट से जन्म लेना ही दोष था। हर क्षण तो ग़रीबी से लोहा लेने का संघर्ष चलता था। गरीब-लाचार लोगों की हालत ऐसे ही होती है। रोज पेट भरने के लिए मर-मर कर जीवित रहना पड़ता है, जीते जी मरना पड़ता है। जिंदा रहते हैं, क्योंकि मर नहीं सकते और मरते हैं इसलिए कि जीवित रहने का कोई उपाय नहीं है।”[27] ‘पराया’ में लक्ष्मण माने लिखते हैं-“शरीर पर मांगकर लायी कमीज होती। उस पर पैबंद होते और वह मुड़ी-तुड़ी होती। उसी से सारा शरीर ढक जाता। चड्डी का ठिकाना ही न था। सारा काम घुटने तक कमीज ही कर डालती।”[28] उसी तरह अपनी गरीबा जिक्र करते हुए लक्ष्मण गायकवाड लिखते हैं-“हमारा घर बहुत छोटा था। उसमें सभी लोग चीलर की तरह भरे रहते। एक ही छप्पर के नीचे बकरियाँ भी बांधी जाती और आदमी-औरतें भी सोते। मैं और हरचंदा बकरियों के पास

सोते। जाड़े के दिनों में बहुत परेशानी होती। हमारी एक चादर में कुत्ता भी घुस आता। बकरियाँ रात में पेशाब करतीं...जाड़े से परेशान सोचता कि बकरियाँ लगातार गरम पेशाब करती रहें, ताकि ठंड तो न लगे।”[29] दरअसल, यह वर्चस्व की लड़ाई है और अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए सवर्ण दलितों को ऊपर उठने नहीं देता। उल्टा दलितों को लाचार और गरीब कैसे बनाया जाय इसके तरफ सवर्णों का ध्यान अधिक होता है। यह ग़रीबी दलितों के ऊपर थोपी गयी है वह भी भगवान के नाम पर, शास्त्रों के नाम पर और जाति के नाम पर, यह परंपरा हजारों सालों से चली आ रही थी। इन परम्पराओं को तोड़ने का काम दलित आत्मकथाएं कर रही है। इसलिए इन आत्मकथाओं में विद्रोह की भावना भी बड़ी तीव्र है।

4.3 दलित स्त्री जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति:

भारत में अस्सी के दशक में हम विभिन्न सामाजिक वर्गों की आपसी आवाजाही के बीच अन्तर्विरोध को एक विश्लेषणात्मक ढाँचे के रूप में उभरता हुआ देखते हैं। यह वही दौर है जब जाति, जेंडर और कई तरह के वर्गों के आधार पर उत्पीड़न, वर्चस्व और भेदभाव की राजनीति को नए ढंग से समझने के प्रयास शुरू हुए। विभिन्न शोध एवं अध्ययन केन्द्रों में आत्मकथा और आत्मकथात्मक लेखन को समाजवैज्ञानिक शोध के लिए आधार स्रोतों के रूप में शामिल किया जाने लगा। अपने बारे में लिखकर या कहकर अपने

साथ–साथ समुदाय और वर्ग के बारे में प्रामाणिक सूचनाएं देने का काम आख्यानकर्ता करता है। अपने जीवन की विभिन्न स्मृतियों को मौखिक या लिखित रूप में आख्यान का आधार बनाकर वह अगली पीढ़ी में अपने अनुभवों को अंतरित करता है। अक्सर वैयक्तिक अनुभवों की अपेक्षा सामुदायिक अनुभवों को तरजीह दी जाती है और ज्यादा प्रामाणिक भी माना जाता है, क्योंकि लोग उसी को दुहराते हैं, बारम्बार सुनते हैं और फिर उसी को दुहराने लगते हैं। लेकिन सत्य वही नहीं है जो समाज या समुदाय की वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा दुहराया और दर्ज किया जाता है। जिसकी तेज़ आवाज़ के शोर में हाशिये की आवाजें कमज़ोर साबित होती हैं।

इन कमजोर आवाजों को आत्मकथन के माध्यम से अपनी बात कहने, 'टेस्टीमोनियो' (सामुदायिक साक्ष्य) प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। दरअसल 'आत्म' का निर्माण जाति, लिंग, वर्ग और वर्ण के साथ यौनिकता को सुदृढ़ करने वाले परस्पर प्रतिच्छेदी (इन्टरसेक्शनल) वाहकों के द्वारा होता है। इस जटिलता के मद्देनज़र जब सामाजिक जीवन की बहुआयामी कोटियाँ विश्लेषण का आधार बनती हैं तो ऐसे में जाति, वर्ग, वर्ण, जेंडर की कई कोटियाँ हमारे सम्मुख होती हैं जिनमें किसी एक अस्मिता या किसी एक कोटि से नहीं बल्कि परस्पर विलयित होती हुए अस्थिर स्वभाव की

अस्मिताओं से हमारा सामना होता है और यहीं पर विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों, जातियों की अस्मिताएं अपने तमाम अंतर्विरोधों के साथ और भी अधिक जटिल रूप में उजागर हो जाती हैं।

समाज में विभिन्न अस्मिताएं अपनी पहचान के लिए परस्पर प्रतिच्छेदी अवस्था (इन्टरसेक्शनैलिटी) में ही रहती हैं, वे स्वायत्त नहीं होतीं मसलन स्त्री और अश्वेत एक दूसरे से अलग नहीं बल्कि दोनों एक दूसरे के सूचक होते हैं। इनकी परस्पर आवाजाही से उत्पीड़न का अभिसरण होता है। सत्ता के सन्दर्भ में परस्पर प्रतिच्छेदी, एक दूसरे को काटती हुई सरणियों को जेंडर और नस्लभेद के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज के दौरान देखा जा सकता है। इसी तरह जाति और जेंडर को पहले समानान्तर माना जाता था परन्तु बाद के अध्ययनों ने इन्हें परस्पर अंतर्ग्रथित साबित कर दिया। पितृसत्ता का सांस्थानिक अनुभव समान होने के बावजूद जाति, वर्ग, वर्ण और धर्म के अन्तराल स्त्रियों के अनुभवों को अपेक्षाकृत ज्यादा, जटिल, मारक, उत्पीड़क और एक दूसरे से पृथक बनाते हैं। स्त्रियों का जीवन जाति के अंतरफलक, धर्म, वर्ग और संप्रदाय के वैभिन्न्य पर टिका हुआ होता है, जो पितृसत्ता से परिभाषित होता है। इसी के आधार पर जेंडर के नियम बनाये जाते हैं और वर्तमान समय में एक अस्तित्व के लिए श्रम–विभेदी और जेंडर–विभेदी

व्यवस्था का निर्माण करते हैं। वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में यदि हम इसे देखें तो यौनिकता, श्रम और अर्थोत्पादन के स्रोत दरअसल पितृसत्ता के भीतर छिपी हिंसा और स्त्री के दैहिक, मानसिक शोषण एवं असमानता के रूप में दिखाई देते हैं। जो असमानता पर आधारित समाज में भयंकर रूप से पद्सोपानिक व्यवस्था के परिणाम हैं।

जाति आधारित समाज में, एक ढंग से एक ही जाति के भीतर अपनी ही जाति की स्त्री के ऊपर अपनी जाति के ही पुरुष के नियन्त्रण या वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास जेंडर सम्बन्धी शोषण का कारण बनता है। पितृसत्ता से सम्प्रदाय और धर्म के गठजोड़ को मुसलमान स्त्रियों की आत्मकथाएं अभिव्यक्त करती हैं। जितनी बेबाकी से मुसलमान स्त्रियाँ इस्लाम के भीतर के दमन और प्रतिरोध की रणनीतियों को कह डालती हैं, ठीक उसी स्तर का प्रतिरोध और आलोचना हमें हिन्दू स्त्रियों के आत्मकथ्यों में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध के बाद कहीं नहीं दिखाई देता। यदि हिन्दू धर्म की आलोचना कहीं दिखाई भी पड़ती है तो वह साहस बीसवीं शती की दलित आत्मकथाकारों में। धर्म जहाँ इस्लाम में तगड़ी सेंसरशिप का काम करता है वहीं हिन्दू धर्म की कट्टरता से निजात पाने के लिए ईसाई या ब्राह्मो धर्म की ओर रुख कर लेने के प्रमाण कई स्त्री आत्मकथ्य देते हैं। उधर बांगला और मलयालम में लिखने वाली अधिकाँश स्त्रियाँ आभिजात्य और मध्यवर्ग का

प्रतिनिधित्व करती हैं उनके आत्मकथ्यों को वर्ग में अंतर्ग्रथित जेंडर विभेद और श्रम विभेद के समीकरणों के आलोक में देखा जाना चाहिए। भारतीय समाज में पितृसत्ता जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म के विभिन्न स्तरों पर अपनी जटिलता के साथ मौजूद है। पौराणिक धर्म ग्रंथों, आचार–संहिताओं में निम्न जातियों और स्त्रियों के लिए अलग प्रावधान दिए गए।

वर्ण व्यवस्था को अपनाकर जाति व्यवस्था का आधार पुख्ता किया गया और इस तरह भारतीय सामाजिक संरचना को एक जटिल बहुआयामी स्वरुप मिला। समाज की सोपानिक-व्यवस्था या जाति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। जाति के कारण स्त्री के शोषण की प्रक्रिया और परिणाम में बहुआयामिता का प्रवेश होता है। जहाँ ऊँची जाति की स्त्री अपने जेंडर के कारण परिवार और समाज में असमानता के अनुभवों से रु-बरु होती है। पितृसत्ता की मौजूदगी वैयक्तिक स्वतंत्रता के हनन, पर्दा और अभिव्यक्ति पर पाबन्दी लगाने जैसे अनेक मुखौटों के साथ उनकी रचनाओं में झांकती है, वहीं निम्न जाति की स्त्री का शोषण वर्ग, जाति और जेंडर के कारण त्रिस्तरीय हो जाता है, कहीं वह पति की मार खाती है, कहीं अपमान का शिकार होती है, कहीं उसे विद्यालय में घुसने से रोका जाता है, कहीं मंदिर में. आर्थिक और सामाजिक समानता के सपने देखने वाले समाज में व्याप्त लैंगिक और

जाति विभेद के बहुआयामी पक्ष इन स्त्रियों की आत्मकथाओं को बहुआयामी बनाते हैं।

जाति, लिंग, वर्ग और नस्ल की अन्तःसम्बद्धता से चार शोषित वर्ग अस्तित्व में आते हैं– सवर्ण स्त्री, दलित स्त्री, दलित पुरुष और रंग और नस्लभेद के शिकार स्त्री–पुरुष। जहाँ पहले के समाजशास्त्री जाति और लिंग को अलग–अलग अवधारणाओं के तौर पर व्याख्यायित करते थे वहीं नूतन अनुसंधान और विश्लेषण से इस पारंपरिक अवधारणा में बदलाव आया और जाति, वर्ग, लिंग और वर्ण के साथ धर्म को परस्पर जटिल रूप में संगुफित माना जाने लगा। उधर पश्चिमी स्त्रीवाद ने नए शोध और आलोचना के आधार पर यह पाया कि नस्लभेद/रंगभेद के अनुभवों को जीती स्त्री के अनुभव अन्य किसी भी स्त्री से अलग विशिष्ट और जटिल होते हैं, यानी अश्वेत(ब्लैक) और गैर–अश्वेत स्त्री के अनुभव एक दूसरे से बिलकुल अलग होंगे। इसी तरह धर्म और सम्प्रदाय के नियम और सेंसरशिप स्त्री के अनुभवों को नितांत विशिष्ट बनाते हैं।

अगर स्त्री-आत्मकथा में सत्य और प्रामाणिक अनुभवों की गूंज सुनाई देती है तो आत्मकथा–आलोचना के लिए यह ज़रूरी है कि उनके आत्मकथ्य

खोजे जाएँ, पुरानी रचनाओं का पुनर्पाठ किया जाए और परस्पर असम्बद्ध दीखने वाली कड़ियों को एकसाथ रखकर देखा जाए। स्त्री के आत्मकथ्य का विश्लेषण उसके समाज, समुदाय, पीड़ा, चोट, लिंग भेद के अनुभव मनोसामाजिकी और भाषा भंगिमाओं को सामने लाने में मदद करता है। यह आलेख स्त्रियों की चुप्पियों, मितकथन और कथन की दरारों को विखंडित कर उनके विश्लेषण का प्रयास करता है। ऐसा समय और समाज जहाँ स्त्री को नितांत निजी कोना उपलब्ध नहीं, वहां उसकी चुप्पी के भी मायने हैं और मितकथन के भी। स्त्रियों के लिखे हुए ये 'आत्मकथ्य' हमें चेतावनी देते हैं कि मौन और मितकथन का अर्थ रिक्ति नहीं है। ये हमारे ज्ञान और संवेदना की सीमा है जो हमें उसकी चुप्पी के पीछे छिपे अर्थ संदर्भों को खोलने नहीं देती। कुछेक चुने हुए विषयों पर ही लिखना, लौकिक प्रेम की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के लिए भक्ति, अध्यात्म और राष्ट्रप्रेम का सहारा लेना, एक तरह की 'सेल्फ सेंसरशिप' है। अकादमिक शोध केन्द्रों और आलोचकों की लम्बी उपेक्षा के बावजूद इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक की शुरुआत में स्त्रीवादी सिद्धांत एक परिपक्व अनुशासन के तौर पर उपस्थित है।

सिमोन-द-बोऊवा ने कहा कि- स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती है। इस बात में यह निहित है कि स्त्री की परम्परागत अस्मिता एक निर्मिती है, वह

सहज नहीं है। दलित स्त्री का प्रश्न 'अस्मिता भीतर अस्मिता' के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। सवर्ण के सापेक्ष जहाँ वह दलित है, अछूत है, वहीं वह पुरुष के सापेक्ष स्त्री या कहें कि पित्रसत्ता के सापेक्ष स्त्री है। श्यौराज सिंह बेचैन कहते हैं-"मुझे लगता है कि दलित स्त्री दलितों में भी दलित है।"[30] चूँकि उनका दोहरा शोषण होता है एक, जाति के नाम पर और दूसरा, स्त्री के नाम पर। सुशीला टाकभोरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' की भूमिका में लिखती हैं- "दलित होने के साथ स्त्री होने की पीड़ा भी मैंने भोगी है। एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरुषसत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है।"[31] भारतीय समाज में दलित स्त्री लेखन ने ऐसा परिवेश पैदा किया है कि अब ये स्त्रियाँ इस बात की मुहताज नहीं कि और कोई उन पर लिखे बल्कि वे खुद अपने जीवन अनुभव अभिव्यक्त कर रही हैं। जो मानसिक संवेदना लिखने का कारण बनी, वह पित्रसत्ता के साथ टकराहट से उपजी है। इस संदर्भ में कौशल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' की भूमिका में लिखती है- "मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं। पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बरदास्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"[32] दरअसल, पुरुष प्रधान भारतीय समाज ने स्त्री को हमेशा दासी के रूप में देखा है। इसलिए वे स्त्री के संघर्ष, त्याग, परिश्रम को भूल जाते हैं।

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री बहुत संघर्षशील दिखाई देती है। वह दोहरा शोषण झेलते हुए भी अपने पूरे परिवार के लिए दिन-रात परिश्रम करती हुई दिखाई देती है। लक्ष्मण गायकवाड 'उचक्का' में लिखते हैं- "दूध बेचने के लिए माँ रोज लातूर जाती।"[33] और आगे कहते हैं- "दूध के पैसों से माँ ने तिन-चार टीन खरीद लिए। घास-फूस की छत निकालकर पत्थर की दीवार बना, उस पर एक दिन टीन बिछाए गए।"[34] फिर भी पित्रसत्ता से ग्रसित लक्ष्मण गायकवाड के पिता माँ की पिटाई करते हैं। 'अछूत' में दया पवार दलित स्त्री के बारे में लिखते हैं- "उलटे पुरुषों की अपेक्षा वे ही अधिक खटती थीं।"[35] दया पवार अपनी दादी के बारे में लिखते हैं- "बड़ी मेहनत से रोटियां जुटाकर उसने अपने दो बेटों को किसी लायक बनाया।"[36] कौशल्य बैसंत्री लिखती हैं- "मेरे माँ, बाबा नागपुर की एम्प्रेस मिल में काम करते थे। माँ धागा बनाने वाले विभाग में काम करती थीं।"[37] दलित स्त्री मेहनत से कभी-भी नहीं कतराती वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलकर काम करती है। बहार काम करने के बाद घर का भी काम वह करती है। फिर भी दलित स्त्री को कुछ दलित पुरुष से उपेक्षा ही झेलनी पड़ती है।

घर के अन्य बच्चे भी पढ़ रहे थेसब की स्कूल फीज देना कौशल्या , बैसंत्री के पिता के बस की बात नहीं थी। इसलिए उनके पिता स्कूल में आकर हेड मिस्ट्रेस से बिनती करते हैं । कौशल्या ने लिखा है बाबा ने हेड मिस्ट्रेस " – स्पर्श नहीं ,क्योंकि वे अछूत थे ,के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से कर सकते थे। बाबा का चेहरामेरी ! कितना मायूस लग रहा था उस वक्त ,

आंखे भर आईथी। अब भी बात की याद आते ही बहुत व्यथीत हो जाती हूँ। अपमान महसूस करती हूँ। जातिपाति बनाने वाले का मुंह नोचने का मन - करता है। अपमान का बदला लेने का मन करता है।[38]" आर्थिक गरीबी और जाति से अछूत होना यह बात दलितों को हजारों सालों से व्यथीत करती आ रही है। जो उन्हें सम्मानपूर्वक जीने नहीं देती। लेखिका स्त्री जीवन की पीड़ाओं को निजी अनुभूति के धरातल पर जी चुकी है। लेखिका अपने पति के बारे में लिखती है पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में" – ही देखना चाहता था।[39]" इससे यह पता चलता है कि दलित पुरुषों में भी स्त्री के प्रति मनुवादी मानसिकता छिपी हुई है। इसका भी विरोध इस आत्मकथा में दिखाई देता है।

पित्रसत्तात्मक समाज में स्त्री को भोग की वस्तु माना गया है। इसलिए स्त्रियों का शारीरिक शोषण भी हुआ है। लेकिन सवर्ण स्त्रियों से ज्यादा दलित स्त्रियों का शोषण हुआ है। इसका चित्रण हम हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में देख सकते हैं। शरणकुमार लिम्बाले ने अपनी आत्मकथा अक्करमाशी में दलित स्त्री के शोषण की परम्परा को दिखाया है। वे लिखते हैं- "जिनके पास वर्ण श्रेष्ठत्व में प्राप्त सत्ता तथा वंश-परम्परा से प्राप्त संपत्ति रही है उन्होंने यहाँ पर दलित स्त्रियों को सतत भोगा है। देहात के जमींदारों, पटेलों ने खेतों में काम करने वाली दलित स्त्रियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। रंडियों की तरह उन्होंने इनका उपयोग किया है। दलितों की लड़कियां इनकी वासना की शिकार रही है। इनके द्वारा किये गए स्वैराचार से

सन्तति जन्म लेती रहती है। जमींदार के इशारे पर जीने वाला घर हर गाँव में होता है। पूरा गाँव इस घर को 'पटेल की रंडी का घर' कहता है।"[40] तमाम दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री का दैहिक शोषण जिस तरह से दिखता है, वह उद्वेलित करता है। किशोर शांताबाई काले अपनी आत्मकथा 'छोरा कोल्हाटी का' में लिखते हैं-"'चिरा' उतारने को नाचनेवाली के जीवन में पति का स्थान मिल जाता है। फिर वह 'चिरा' उसकी मर्जी से उतरा गया हो या किसी और की मर्जी से।"[41] किशोर शांताबाई काले लिखते हैं- "जब महिला गर्भवती होती है, तो वह आदमी उसे छोड़कर चला जाता है और फिर कभी वापस नहीं आता है। इसके बाद वह महिला फिर नृत्य शुरू कर देती है। इसके बाद फिर चिरा की रस्म होती है। यह सिलसिला चलता रहता है।"[42] लड़की जवान होने के बाद पहली बार किसी पुरुष से यौन-संबंध स्थापित करने जाती है तब उसको 'चिरा' उतारना कहते हैं। यह 'चिरा' उतारने के लिए भी तथाकथित उच्च जातियों के साहूकार, जमींदार या कोई नेता ही होता। यह कोल्हाटी समाज की बहुत ही बड़ी समस्या है।

4.4 आत्मकथाओं में विभिन्न जन संस्कृतियों का यथार्थ चित्रण

भारतीय समाज व्यवस्था में भिन्न-भिन्न जाति-जनजातियाँ हैं। उनका सांस्कृतिक व्यवहार भी अलग-अलग है। हर एक जाति की परंपरा, देवी-देवता, त्यौहार, कला, श्रद्धा-अंधश्रद्धा, व्यवसाय आदि अलग-अलग हैं। हिंदी और दलित आत्मकथाओं में खंडोबा, मरीआई, सटवी, यल्लमा, मसोबा,

लमान-पठान, पीरबाबा, आग्या-बेताल आदि देवी-देवता एवं उनकी यात्रा-पर्व-उरूस का वर्णन आया है। बच्चे के जन्म के पांचवे दिन जानवर के पांच अवयव का नैवेद्य बनाकर सटवी की पूजा करने की परम्परा का 'जीवन हमारा' में वर्णन हुआ है। यह आत्मकथाएं शकुन-अपशकुन जैसे जैसे लोकविश्वासों को भी संस्कृति के एक अंग के रूप में प्रस्तुत करती है। बुरी आत्माओं का साया बच्चा और जच्चा पर न पड़े इसलिए घर में घुसते वक्त पैरों को धोना। ईश्वर को खुश करने के लिए मुर्गे, बकरे और भैसे की बलि देना, ईश्वर पूजा के लिए नहान विधि, कौवे की रति क्रीडा देखने पर अपने मृत्यु की खबर मेहमानों को भेजना, मृत्यु पर शव के पास शराब, मांस रखना, मृत्यु पर शराब पीना आदि। दलितों के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन को यह आत्मकथाएं व्यक्त करती हैं और हिन्दुओं के सांस्कृतिक जीवन से अलग होने की गवाही देती है।

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में देवी-देवता की पूजा, बलि देना, जलसा आदि का वर्णन हुआ है। एक परम्परा के बारे में दया पवार लिखते हैं- "महारों ने होली के लिए आग नहीं दी तो गाँव में भयानक दैवी संकट से घिर जायेगा – ऐसी गाँव वालों की धारणा थी।"[43] फिर आगे दया पवार लिखते हैं- "पुरानी परम्परा से हमारे घर में खंडोबा की पूजा होती। माँ ने चांदी के कुछ नये टांक बनवा लिये थे। पिताजी की मृत्यु के कारण माँ पर परिस्थितियों के दबाव के कारण डर पैदा हो गया था। वह रविवार को

खंडोबा को स्नान करवाने को कहती। घोड़े पर बैठा खंडोबा। हाथ में तलवार। उनके साथ भैरव रहते। स्नान करवाना अर्थात थाली में पानी लेकर धोना। इंट की बुगदी से उनका जंग साफ किया जाता। तब वह चमकने लगते। धोया गया पानी छपर पर भेंकते। शाम को आरती की थाल भर जाती। बेल-भंडार फेंकते। नारियल के टुकड़े बांटते। माथे पर गुलाल लगाते। जिस प्रकार हफ्ते में एक दिन इस पूजा के लिए होता, ठीक उसी तरह समाधी पर पानी चढ़ाना भी एक दिन का काम होता। गुरुवार का उपवास रखना पड़ता।"[44] अछूत में लोककला –रायन्दर, तमाशा, जलसा एवं लोकवाद्य – कांडा, शहनाई जैसे वाद्यों का चित्रण भी आया है। उचक्का में लक्ष्मण गायकवाड लिखते हैं- "उस दिन तक मुर्गा खरीद लिया गया। पटेल की दुकान से मैं ब्लेड ले आया। उस ब्लेड से भाऊ ने मुर्गे की गरदन काट दी। झोपड़ी में स्थित भगवान की तस्वीरों को नमस्कार किया सबने एक स्वर में कहा, माँ भवानी, तुलजा माँ चोरी के कार्य में यश दे, अच्छी आमदनी होने दे। फिर सबने परडी और कौड़ियों की माला को भक्ति-भाव से स्पर्श किया, नमन किया।"[45] उचक्का पाथरूट समाज के सांस्कृतिक जीवन को हमारे सामने रखती है। जब उठाईगीर चोरी करने निकलते हैं तब विधिवत भारत ब्लेड की पूजा करते हैं। तराल-अन्तराल, असीम है आसमाँ, जीवन हमारा आदि में तरालकी लाठी, एस्करकी की प्रथा, मांस के सोलहवें हिस्से का वर्णन आया है। जीवन हमारा और असीम है आसमाँ में महारों के विवाह विधि का वर्णन आया है। जिसमें नृत्य-गान, गालियाँ देना, हल्दी लगाना आदि का समावेश है। इस संदर्भ में

असीम है आसमाँ चरित्र सोनू कहती है- “हमारे निकलने के ठीक पहले उसने मुझे अपने पति के साथ बिठाया। उसने हम दोनों के माथे पर सिंदूर लगाया कि दुष्ट आत्माओं से हमारी रक्षा हो। मैंने साड़ी पहन रखी थी। उसने कहा की मैं पल्लू खोलूं। उसने उसमें एक फल, नारियल कुछ सिक्के और चावल डाले।”[46] इस तरह से गोदभराई के रस्म का वर्णन आया है। किशोर शांताबाई काले अपनी आत्मकथा ‘छोरा कोल्हाटी का’ में लिखते हैं-“’चिरा’ उतारने को नाचनेवाली के जीवन में पति का स्थान मिल जाता है। फिर वह ‘चिरा’ उसकी मर्जी से उतरा गया हो या किसी और की मर्जी से।”[47] फिर किशोर शांताबाई काले लिखते हैं- “जब महिला गर्भवती होती है, तो वह आदमी उसे छोड़कर चला जाता है और फिर कभी वापस नहीं आता है। इसके बाद वह महिला फिर नृत्य शुरू कर देती है। इसके बाद फिर चिरा की रस्म होती है। यह सिलसिला चलता रहता है।”[48] इस तरह से हम देख सकते है कि अशिक्षित दलित समाज किस तरह से अंधविश्वास के भयानक गर्त में फंसा हुआ है।

4.5 आत्मकथाओं में दलित आन्दोलन एवं डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों की अभिव्यक्ति

दलित साहित्य मूलत: दलित आन्दोलन से उभरा साहित्य है। दलित आन्दोलन की शुरुआत डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के नेतृत्व में हुई जिसका बिज महात्मा फुले ने बोया था। इस दलित आन्दोलन की यात्रा और दलित

आत्मकथा लेखकों की जीवन यात्रा साथ-साथ चल रही थी। इस कारण दलित आन्दोलन की अतिविधियों को यह आत्मकथाएं सशक्त रूप से प्रस्तुत करती हैं। दलित आन्दोलन की आवश्यकता क्यों बनी रही, और वह साहित्य में कैसे आया के संदर्भ में शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं- "स्वतंत्र मिला पर व्यवस्था वही रही, कायदे के सामने सभी को समान माना गया। हर एक को मतदान का अधिकार मिला, पर सामाजिक विषमता नष्ट नहीं हुई। क्रांति का आधाचक्र ही घूमा पर पूर्ण आस के साथ घुमाने की ताकत से दलित आन्दोलन क्रांतिप्रवन बन गया। इस आन्दोलन के स्पंदन दलित साहित्य में व्यक्त हुए है।"[49] भारत स्वतंत्र होने के बाद और संविधान लागू होने बाद दलितों में एक आशा थी कि संविधान के हिसाब से सभी समान हो जायेंगे, लेकिन तथाकथित अभिजात्य वर्ग को यह मान्य नहीं था और आये दिन दलितों पर अन्याय-अत्याचार होते रहे। दलितों का इस सवतंत्रता से भी मोहभंग हो गया था। उसी समय कुछ दलित साहित्यकारों ने अन्याय-अत्याचार के खिलाफ लिखना शुरू किया था। उन लेखकों को अमेरिका के ब्लैक पैंथर आन्दोलन की जानकारी थी। भारत सरकार से मोहभंग हो जाने के बाद ब्लैक पैंथर के दर्ज पर महाराष्ट्र में 'दलित पैंथर'(1972) की स्थापना हुई। पूरे महाराष्ट्र में कहीं पर दलितों पर अन्याय होता था तब दलित पैंथर लोग हथियार लेकर पहुँच जाते थे और वही पर 'टीट फॉर टैट' के दर्ज पर न्याय करके आते थे। इनमें प्रमुख ज.वी.पवार, राजा ढाले, नामदेव ढसाल आदि प्रमुख थे। इस आन्दोलन के आक्रामकता का प्रभाव दलित आत्मकथाओं पर भी हुआ है।

दलित आत्मकथाएं दलित आन्दोलन को तीन रूपों को सामने लाती हैं। पहला काल,घटना एवं डॉ.आंबेडकर की भूमिका, दूसरा दलित आन्दोलन का समाज पर पड़ता प्रभाव एवं सुधार की दिशा और तीसरा दलित आन्दोलन को अवसरवादी दलित नेतृत्व के कारण आती विकृति।

दलित आत्मकथाओं में स्थल-काल, घटनाओं के अंकन की शुरुआत ई.स. 1927 में हुए महाड के मीठे तालाब के आन्दोलन से होती है। 'असीम है आसमां' इन घटनाओं का आँखों देखा हाल दामू की उपस्थिति में नरेंद्र जाधव कराते हैं और सनातनियों के तालाब शुद्धिकरण की बौनी मानसिकता के एतिहासिक घटना को चित्रित करते हैं। दामू कहता है- "मुंबई में वापस आने पर हमने अखबरों में पढ़ा कि महाड में ऊँची जातिवाले सभी वर्गों ने ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ करके महाड के अछूतों द्वारा भ्रष्ट किए तालाब को दोबारा शुद्ध और पवित्र कर दिया। इस शुद्धिकरण के लिए उन्होंने 108 घड़े दूध, दही, गाय का गोबर और गोमूत्र का मंत्रोच्चारण के साथ किया।"[50] इस घटना के अलावा कालाराम मंदिर, मनुस्मृति का दहन, राउंडटेबल कॉन्फ्ररन्स, पूना पैक्ट, गाँधी-अम्बेडकर विवाद, धर्मान्तर आन्दोलन एवं मराठवाड़ा विश्वविद्यालय को डॉ.बाबासाहेब का नाम देने के लिए चलाये गए नामांतर आन्दोलन आदि को दलित आत्मकथाएं अभिव्यक्ति देती हैं। इन घटनाओं के प्रत्यक्ष साक्षी रहे नरेंद्र जाधव के पिता दामोदर जाधव, ; 'तराल-अन्तराल' शंकरराव खरात आदि अपनी जुबानी आत्मकथा में देते हैं। इस संदर्भ में डॉ.यशवंत मनोहर लिखते हैं- "यह स्वकथन अम्बेडकरी प्रेरणा की गोद से जन्मे हैं।"[51] तराल-

अन्तराल में शंकरराव खरात लिखते हैं- “दिनांक 6 दिसंबर, 1956 के दिन दिल्ली में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का महानिर्वाण हो गया। उनके निर्वाण का यह समाचार क्षण भर में ही आकाशवाणी के जरिए सारे भारत में फैल गया। कोर्ट से निकलते ही मुझे यह समाचार मिला। मेरे ह्दय पर इसका ऐसा आघात लगा की मैं क्षण भर के लिए खड़ा भी नहीं रह सका। मैं बैठ गया और मेरी आँखों से आंसू टपकने लगे। यह समाचार सुनते ही मेरी माँ और पत्नी की आँखों से भी अश्रुधारा बहने लगी। अनायास ही माँ के मुंह से निकला ‘हमारो बाबा चली गयो ... । दीन दुखियान कौ हिमाती अब नहीं रहौ।”[52] डॉ.बाबासाहेब के महान कार्य के कारण ही शरणकुमार लिम्बाले को वह पिता, बेबी काम्बले को सूर्य एवं नरेंद्र जाधव को वह आधुनिक कर्ण लगते हैं।

दलित आत्मकथाओं ने दलित आन्दोलन की गतिविधियों के साथ-साथ अवसरवादी लोगों की तथा त्याग, समर्पण, सेवाभाव जैसे गुणों के लोप को भी अभिव्यक्त किया है। डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर के महापरिनिर्वाण के बाद दलित समाज पूरी तरह से बिखर गया था। ‘जीवन हमारा’ में बेबी काम्बले लिखती हैं- “प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप को सबसे बड़ा नेते समझने लगा। अपने स्वार्थ के लिए संघ के टुकड़े करने पर तुल गया था। अब दलित समाज बिखरने लगा। दलितों की ताकत कम होने लगी वह मजबूत नेतृत्व भी नहीं रहा।”[53] वही दया पवार लिखते हैं- “जब तक बाबासाहेब जीवित थे, राजनीति में एक जीवित ऊष्मा थी। तप्त ज्वालामुखी-सा यह समाज उफनता रहा। खेत-काम न मिलने का आन्दोलन गाँव-गाँव सुलग रहा था। महारकी

अर्थात गुलामगिरी में काम नहीं करेंगे। स्वाभिमान की हवा महार लोगों के भीतर संचारित हो रही थी। पहाड़ों से टकराने की धमक इस आन्दोलन में थी। परन्तु बाबासाहेब की मृत्यु के बाद? एक खंबे का तम्बू जैसे झंझावती तूफान के सामने धूल मिल जाये, ठीक यही दुर्दशा इस आन्दोलन की हुई। दूसरे के महलों में मत भटको, अपनी झोपड़ी बचाओ, बाबासाहेब का यह आदेश हवा में घुलने लगा। जैसे गुड से मक्खी चिपकती है वैसे वे सत्ता से चिपकने लगे। कांग्रेस-रिपब्लिकन समझोता तो आन्दोलन को स्लो पॉइसन-सा ख़त्म करने लगा।"[54] इस तरह से यह आत्मकथाएं दलित आन्दोलन की गतिविधियों के साथ बाबासाहेब के कार्य तथा आन्दोलन की दशा-दिशा का यथार्थ चित्रण करती हैं। अवसरवादी नेताओं की सत्तालोलुपता का जिक्र भी आत्मकथाओं में हुआ है।

4.6 दलित आत्मकथाओं का पाठकों पर प्रभाव

आधुनिक काल में दलित साहित्य एक आंदोलन के रूप मे उभरकर सामने आया, जिसमें दलित शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया। दलित उसे कहा गया जो, सर्वहारा है, जो पिछड़ा है, पीड़ित व कुचला गया है, जो दलितों की समस्याओं व्यथाओं, पीडाओं आदि को व्यक्त करता है परंतु अब वर्तमान समय में इसकी एक अलग पहचान होने के कारण परिभाषा बदल गयी है। अतः दलितों के द्वारा दलितों की समस्याओं को लेकर लिखे गए

साहित्य को दलित साहित्य कहते हैं। दलित साहित्य ने अनुपस्थित व्यक्ति को उपस्थित ही नहीं किया बल्कि विश्व स्तर पर अपने होने की दस्तक दी है। दलित साहित्य मूलतः भौतिकवादी है वह शान्ति चाहता है, गुलामी नहीं। दलित साहित्य ने हिन्दी साहित्य को लोकतान्त्रिक ही नहीं किया बल्कि समृद्ध भी किया है। देखा जाए तो साहित्य की दुनिया को व्यक्ति, समाज, धर्म, राष्ट्र आदि को देखने और समझने की नयी दृष्टि दी है, दलित साहित्य का सर्वप्रथम आगाज मराठी में हुआ। डॉ. अंबेडकर ने दलितों मे एक नयी चेतना पैदा की जिसके परिणामस्वरूप दलित साहित्य की रचनात्मकता का उदय हुआ, जिसे अछूत कहकर सदियों तक मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकतओं और सुविधाओं से वंचित रखा गया और जिसे केवल दुख, वेदना, गुलामी, अपमान,आंसुओं से भरी ज़िंदगी बिताने के लिए विवश किया । हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था व समाज व्यवस्था ने उसे वह स्थान दिया ज़ो नगरों, गाँवों से दूर था उनके जीवन में प्रकाश लाने का कार्य डॉ. अंबेडकर ने किया। उनमें दलित चेतना पैदा की। खोई हुई अस्मिता जीवित करने की जद्दोजहद शुरू हुई । विद्रोह की भावना और नकार के साथ शुरू होने वाला दलित साहित्य, साहित्य के सत्यम, शिवम, सुंदरम के सामंती और ब्राह्मणवादी संकीर्ण दायरे

से बाहर निकला है, वस्तुनिष्ठ बना है, सही अर्थों में साहित्य को समाज का प्रतिबिंब बनाया है।

दलित विमर्श में जाति एक प्रमुख समस्या और प्राथमिक मुद्दा है। जिस प्रकार भारतीय समाज में जाति का होना यथार्थ है उसी प्रकार भारतीय समाज में जाति का टूटना भी यथार्थ है । दलित साहित्य किसी प्रकार के उत्पीड़न का चाहे वह मानसिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, शारीरिक का घोर विरोधी है। अगर पक्षधर है तो समता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व का। दलित साहित्य ने अपने वैचारिक आधार को खड़ा करने के लिए कुछ प्रचलित मिथकों जैसे शंबूक, एकलव्य का भी प्रयोग किया तथा साथ ही साथ नए मिथकों को भी खोज निकाला जैसे रावण, वीरांगना झलकारी बाई, वीरांगना ऊदादेवी पासी आदि। दलित साहित्य के उद्भव काल को खोजते हुए दलित इतिहासकारों ने जहा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता को "वणिक और शूद्रों" की सभ्यता घोषित किया तो दूसरी तरफ दलित साहित्य के इतिहास को नाथ और सिद्धों के साहित्य में देखने का प्रयास किया, मध्यकाल के संत कवि रैदास को पहला कवि स्वीकार किया जाता है, जिन्होने अपने काव्य में वर्ण-व्यवस्था का खुलकर विरोध किया।

यों तो दलित साहित्य की परंपरा की शुरुआत लोक गीत और कविता से हुई है लेकिन आज हिन्दी में उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, गद्य, लघु कथा, आलोचना, शोध, अनुवाद, इतिहास लेखन तथा आत्मकथा आदि विधाओं में लेखन हो रहा है। देखा जाए तो इन सारी विधाओं में आत्मकथा विधा सर्वाधिक चर्चित है। दलित आत्मकथाओं की विशेषता यह है कि एक आत्मकथा मात्र उस लेखक, लेखिका की, एक दलित व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होती बल्कि वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है । आत्मकथा का आधार यथार्थ होता है और दलित आत्मकथाओं में समाज द्वारा दलितो के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय, असमानता, जातिगत भेदभाव, शोषण और अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। दलित लेखक होने के नाते भोगी गयी यातना, अपमान और संघर्ष का चित्रण ही सर्वप्रमुख है। दलित साहित्य की पहचान ये दलित आत्मकथाएं ही हैं। दलित आत्मकथाओं ने समाज के सर्वथा नए अनुभवों से साहित्य जगत का परिचय कराया है और ये साहित्य की अमूल्य निधि है।

आज दलित साहित्य का स्वरूप अखिल भारतीय हो गया है । नामवर सिंह दलित साहित्य के संदर्भ में कहते हैं - “आज इसे स्वीकार करने के

अलावा कोई चारा नहीं है। दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य मात्रा और गुण दोनों ही में काफी अंतर आ गया है इसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।''[55]

दलित साहित्य के पाठककों के बारे में जब हम बात करते है तो निश्चित तौर से हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य के पाठक दो तरह के हैं एक, जो दलित साहित्य का समर्थन करते हुए उसे मुख्यधारा के साहित्य के अगले पड़ाव के रूप में देखते है और दूसरे वे पाठक हैं जो दलित साहित्य का विरोध करते हैं। आज के समय में विरोध करने वालों की संख्या कम और समर्थन करने वालों संख्या ज्यादा है। दरअसल बहुत बड़ी संख्या में पाठक दलित साहित्य को पढ़ रहा है यही कारण है कि "बीसवीं मध्य में दलित साहित्य के मुद्रण और प्रकाशन में आश्चर्यजनक तेजी देखी गयी विशेषकर उत्तर भारत में मराठी और तमिल के साथ अन्य भारतीय भाषाओं का दलित साहित्य बड़े पैमाने पर अनूदित होना शुरू हुआ। ये इस बात की ओर संकेत करता है कि उत्तर भारत में एक 'सबालटर्न काउंटर पब्लिक' तैयार हो चुकी है।"[56] इससे साफ होता है कि दलित साहित्य का पाठक वर्ग काफी बढ़ गया है। पाठकों में दलित साहित्य पढ़ने की दिलचस्पी बढ़ने कारण लाखों की संख्या में दलित साहित्य के किताबें बिक रही है।

दलित साहित्य में आत्मकथाओं बिक्री सबसे ज्यादा है। डॉ.नरेन्द्र जाधव ने अपनी आत्मकथा 'आमचा बाप आणि आम्ही' की प्रसिद्धि के बारे में लिखा है- "एक आत्मकथा के देशी-विदेशी 17 भाषाओं में अनुवाद होना और 20

साल में लगभग 6 लाख किताबे बिकना, यह इस आत्मकथा का सबसे बड़ा यश है।"[57] इस बात से अंदाजा लगाया जा सकता है कि दलित आत्मकथाएं कितनी प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मण गायकवाड अपनी आत्मकथा 'उचक्का' की भूमिका लिखते हुए कहते हैं- "उचक्का के लिये मुझे मराठी भाषी लोगों ने बहुत प्यार दिया।"[58] हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की नयी आवृत्ति में लगभग सभी लेखकों ने पाठकों की प्रतिक्रियाओं का संदर्भ देते हुए आत्मकथा की प्रसिद्धि जिक्र किया है। इन आत्मकथाओं को जब दलित पाठक पढ़ता है तो उसको अपनी ही आपबीती लगती है और सहृदय दलितेतर पाठक पढ़ता है तो वह अपने जाति व्यवस्था को, अपने पूर्वजों को कोसते हुए नहीं रह सकता।

अब पाठकों की संख्या बढ़ने के कारण हिन्दी के सभी विद्वान दलित साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त हैं। आज वर्तमान समय में केवल कविता और आत्मकथा से शुरू होने वाला दलित साहित्य नाटक, एकांकी लघुकथा, आलोचना, शोध, अनुवाद, इतिहास आदि विधाओं में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराते हुए इन सभी विधाओं में अग्रसर है।

संदर्भ

[1] हिंदी का दलित आत्मकथा साहित्य-डॉ.संजय मुनीश्वर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर,2011,पृ.सं.94
[2] मराठीतील आत्मचरित्रपर लेखन-उषा हस्तक, पृ.सं.137
[3] हिंदी दलित साहित्य-मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.13
[4] दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.15
[5] Indian society- S.C.Dube, p.57, National Book Trust, New Delhi, 1994
[6] संपादकीय, सत्ता की शतरंज और दलित मोहर-राजेन्द्र यादव, हंस 2004
[7] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.48
[8] तराल-अन्तराल- शंकरराव खरात, पृ.सं.47
[9] अछूत- दया पवार, पृ.सं.12
[10] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.27
[11] अपने-अपने पिंजरे भाग 1-मोहनदास नैमिशराय,पृ.सं.34
[12] मुर्दहिया (आत्मकथन) – डॉ.तुलसीराम,पृ.सं.54
[13] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.19
[14] दुर्गा दीक्षित-तराल-अंतराल, भूमिका
[15] अपने-अपने पिंजरे-मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.58
[16] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.13
[17] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.62
[18] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.61
[19] तिरस्कृत-सूरजपाल चौहान,पृ.सं.70
[20] तराल-अन्तराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.50
[21] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.39
[22] साहित्य में दलित चेतना का विस्फोट-डॉ.सुनीता, आजकल-जनवरी 2009,पृ.सं.48
[23] अपने-अपने पिंजरे-मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.61
[24] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.सं.34
[25] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले,पृ.सं.60
[26] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.35
[27] तराल-अंतराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.12
[28] पराया-लक्ष्मण माने, पृ.सं.01
[29] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड,पृ.सं.15-16
[30] दलित स्त्रीवाद की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति-राम रमेश राम,पृ.सं.23
[31] शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभोरे, भूमिका
[32] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, भूमिका
[33] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड,पृ.सं.25
[34] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड पृ.सं.23
[35] अछूत-दया पवार, पृ.सं.13-14

[36] अछूत-दया पवार, पृ.सं.17
[37] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.11
[38] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.47
[39] दोहरा अभिशाप-कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं.106
[40] अक्करमाशी-शरणकुमार लिम्बाले, पृ.सं.14
[41] छोरा कोल्हाटी का-किशोर शांताबाई काले,पृ.सं.18
[42] छोरा कोल्हाटी का- किशोर शांताबाई काले, पृ.सं.60
[43] अछूत-दया पवार, पृ.सं.83
[44] अछूत-दया पवार, पृ.सं.83
[45] उचक्का-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.39
[46] असीम है आसमाँ-नरेंद्र जाधव, पृ.सं.84
[47] छोरा कोल्हाटी का-किशोर शांताबाई काले,पृ.सं.18
[48] छोरा कोल्हाटी का- किशोर शांताबाई काले, पृ.सं.60
[49] दलित साहित्य-शरणकुमार लिम्बाले,मनोगत,पृ.सं.5
[50] असीम है आसमां-डॉ. नरेंद्र जाधव
[51] आंबेडकरवादी मराठी साहित्य- डॉ.यशवंत मनोहर,पृ.सं.262, भिमरत्न प्रकाशन,नागपुर,सं.1993
[52] तराल-अन्तराल-शंकरराव खरात, पृ.सं.255
[53] जीवन हमारा-बेबी काम्बले, पृ.सं.125
[54] अछूत-दया पवार, पृ.सं.205
[55] संपादक–राजेंद्र यादव,हंस अगस्त 2004 पृष्ठ -94-95
[56] दलित स्त्री की आत्मकथाएं-गरिमा श्रीवास्तव, समालोचन, ऑनलाइन पत्रिका
[57] आमचा बाप आणि आम्ही-डॉ. नरेंद्र जाधव, भूमिका
[58] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, भूमिका

पंचम अध्याय

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन

भाषा को मनुष्य के बीच भावों, विचारों का आदान प्रदान करने माध्यम कहा जाता है। लेकिन दलित और गैर-दलित एक ही समाज का हिस्सा होने के बावजूद भी दोनों के बीच भाषा के संदर्भ में विविधता क्यों दिखाई देती है? अलगाव क्यों दिखाई देता है? दलित साहित्य की भाषा वर्णाश्रम व्यवस्था और जातिप्रथा के खिलाफ गुस्सा, आक्रोश और आग क्यों उगलती है? यह भाषा अन्याय-अत्याचार के खिलाफ सरेआम संघर्ष क्यों करती है? यह भाषा मानव विरोधी परम्पराओं पर सवाल क्यों उठाती है? दरअसल, दलित साहित्य की भाषा ब्राह्मणवादी, सामंतवादी और अभिजात्य विचारों एवं संस्कारों से मुक्ति की भाषा है। दलित साहित्य की भाषा सामाजिक न्याय की भाषा है। सामाजिक न्याय की यह भाषा समता, भाईचारा और व्यक्ति स्वतंत्रता के पक्ष में तटस्थ और निष्पक्ष अभिव्यक्ति की लोकतांत्रिक संस्कृति से जुडी हुई है।

दलित साहित्य की रचना प्रक्रिया में शब्द चयन और भाषा शैली के प्रयोग की व्यापकता के संबंध में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-"युगों-युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक, संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हाशिए पर कर दिए गए इस समूह की पीड़ा

जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश शब्द की आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती है।"[1] दलित लेखकों ने साहित्य की भाषा में कला की अपेक्षा सामाजिक प्रतिबद्धता को महत्व दिया है। सदियों से जिन लोगों को मानवीय गरिमा और प्रतिष्ठा से उपेक्षित रखा गया है वे लोग स्वयं अपनी गरिमा और प्रतिष्ठा को पाने के लिए साहित्य सृजन कर रहे हैं। इसलिए इन्हें साहित्य सृजन में कला नहीं बल्कि मानवीय मूल्य ज्यादा आकर्षित करते हैं।

इतिहास में डॉ.बाबासाहेब अंबेडकर ने जिस समाज को 'मूकनायक' कहा है उस 'मूकनायक' समाज की वेदना और विद्रोह की विस्फोटक अभिव्यक्ति साहित्य की दुनिया में विशेष रूप से विचार-विमर्श और बहस के साथ-साथ दृष्टि से अध्ययन-विश्लेषण करने का विषय बनी हुई है। दलित आत्मकथाकारों द्वारा अपने यथार्थ अनुभवों के, साधारण बोलचाल के शब्दों का सामाजिक परिवर्तन के लिए शस्त्र की तरह प्रयोग किया जा रहा है। इन शब्दों में ब्राह्मणवादी, सामंतवादी और अभिजात्य समाज के झूठे, दोहरे और अलोकतांत्रिक संस्कारों और व्यवहारों को बेनकाब करके मानवीय मूल्यों को समाज में स्थापित करने की कोशिश दिखाई देती है। यहाँ भाषा हजारों सालों के शोषण और दमन की विस्फोटक अभिव्यक्ति है। इस विस्फोटक अभिव्यक्ति की संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का सन्देश है। इस भाषा में केवल वेदना,

विद्रोह, विरोध, नकार और प्रतिरोध ही नहीं है बल्कि भविष्य के समता मूलक समाज के निर्माण का दृढ़ संकल्प भी दिखाई देता है।

दलित साहित्य की कला लोकतांत्रिक मूल्यों से निर्मित हो रही है और वेदना-विद्रोह दलित साहित्य की कलात्मक दृष्टि को ऊर्जा दे रही है। दलित साहित्य में भाषा का प्रयोग जो कलात्मक दृष्टि से किया गया है वह समाजशास्त्रीय दृष्टि से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्रीय दृष्टि का अर्थ है कला की सामाजिक प्रतिबद्धता को महत्व देना। दलित साहित्य ने रचना और पाठक के बीच का संबंध कल्पना से नहीं बल्कि यथार्थ से जोड़ा है। दलित साहित्य की यह कला यथार्थ बोध और मूल्य चेतना से जुडी हुई है। दलित साहित्य का यह यथार्थ बोध मूल्य चेतना साहित्य की कला को पाठक से जोड़ने का काम करती है। यह कला अभिजन संस्कृति से अलग हठकर शोषित-उपेक्षित जन से जुडी हुई है। दलित साहित्य की भाषा के इस कलात्मक प्रयोग में दलित दुनिया के यथार्थ अनुभव, नयी सोच, वैज्ञानिक विचार, दृढ़ संकल्प विश्वसनीय और अनुकरणीय है। शोषित-उपेक्षित जन से जुड़े दलित साहित्य में अभिव्यक्त कला का प्रयोग समाज को प्रेरित करने के उद्देश्य से किया हुआ है। दलित साहित्य की कला में बोझिलता नहीं बल्कि सहजता दिखाई देती है। दलित साहित्य की कला में चमक-दमक, मोहकता और मनोरंजन नहीं है। दलित साहित्य में काल्पनिक और खोखले आदर्शों की जालसाजी नहीं दिखाई देती बल्कि मानव विरोधी प्रवृत्ति पर प्रहार की क्षमता दिखाई देती है।

दलित साहित्य पर अनगढ़,अरुचिकर,असंयत भाषा, कलात्मकता का अभाव और शिल्पगत त्रुटियाँ आदि आरोप अक्सर लगते रहे हैं। हिंदी प्रकाशक और संपादकों का रवैया भी इन्हें निकृष्ट मानकर नजरअंदाज करने का रहा है। दरअसल भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति उसी भाषा में हो सकती है जैसे लेखक ने स्वयं भोगा है। इस संबंध में शरणकुमार लिम्बाले कहते हैं- “मेरा यह आक्रोश मेरा दर्द है। जब मेरी माँ-बहन पर अत्याचार होता है, उसे क्या कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करू?”[2] इसलिए हम यहाँ पर कह सकते हैं कि दलित साहित्य में कलात्मकता ज्यादा अभिव्यक्त होने की भावना अधिक तीव्र है।

मराठी दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त होनी वाली भाषा उस क्षेत्रीय बोली भाषा का स्वर लिए हुए है। दरअसल महाराष्ट्र में मराठवाड़ा,पश्चिम महाराष्ट्र, उत्तर महाराष्ट्र(खानदेश), विदर्भ, कोंकण आदि भाग हैं उसमें फिर मराठी भाषा को क्षेत्रीय बोली भाषा में बांटा गया है जैसे- मराठवाडी, पुणेरी, सोलापुरी,खानदेशी,वर्हाडी आदि। इसलिए मराठी आत्मकथाकार जिस क्षेत्रीय भाषा से संबंधित होगा स्वभाविक रूप से उस भाषा का असर उसकी आत्मकथाओं दिखेगा। मराठी आत्मकथा ‘यादों के पंछी’ की भूमिका लिखते हुए डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे लिखते हैं-“प्रस्तुत आत्मकथा की भाषा मराठवाड़ा में बोली जाने वाली ‘महारी’ भाषा है।”[3] इसलिए हम कह हैं कि सभी आत्मकथाकारों पर उस क्षेत्रीय भाषा का असर होता है जहाँ से वे संबंधित होते हैं।

हिंदी और मराठी दलित साहित्यकार अपने देश-काल और परिस्थिति के अनुकूल भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। अत: उसकी अभिव्यक्ति समाज को सार्थक संदेश देने में सफल हो रही है। दलित आत्मकथाओं में भाषा की यह विशेषता विद्यमान है। यही कारण है कि आत्मकथा में अंग्रेजी, विदेशी शब्द, देशज शब्द आदि के प्रयोग से भाषा समृद्ध है। अत: यहाँ पर हम हिंदी और मराठी आत्मकथाओं में प्रयुक्त विभिन्न शब्द प्रयोग को संक्षिप्त में देखेंगे।

5.1 हिंदी दलित आत्मकथाओं की भाषा

अपने -अपने पिंजरे-मोहनदास नैमिशराय

आत्मकथा में अपनी जीवन गाथा प्रस्तुत करते हुए अपने परिवेश की भाषा का आवश्यकतानुरूप प्रयोग लेखक करता है तो वह अनुचित नहीं लगता बल्कि उसकी वर्णनात्मकता तथा निवेदन शैली के लिए सहायक सिद्ध होती है। इस अध्याय में प्रथम यहां मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में जो भाषा प्रयुक्त हुई है उसका अध्ययन कर विवेचन प्रस्तुत कियाजा रहा है। इस आत्मकथा की भाषा समृद्ध हिंदी है। इसमें विभिन्न भाषा के शब्द प्रयोग सहजता से किए गये हैं। शब्दों के वैकल्पिक रूप का प्रयोग समान अर्थवाले शब्द प्रयोग, कहावत, मुहावरें का प्रयोग, तथा कहीं-कहीं अशिष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। संपूर्ण आत्मकथा में अंग्रेजी शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इन सभी विविधताओं के बावजूद

परिवेश की तथा उर्दू शब्द भी प्रयुक्त किये गये है।बिच-बिच में देशज, अश्लील शब्द प्रयोग हुआ है।

आत्मकथा सरल, सीधी सुगठित दिखाई देती है। आत्मकथा में पात्र एवं चरित्रानुकूल भाषा प्रयोग आत्मकथा की विशेषता है। कथावस्तु संगठित एवं सुगठित रखने में लेखक ने कथावस्तु को ध्यान में रखा है। सबसे पहले हम 'अपने-अपने पिंजरे' में प्रयुक्त भाषा को यहाँ पर देखेंगे।

अंग्रेजी शब्द:- इस पूरी आत्मकथा में सौ से अधिक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है लेकिन शोध की सीमा को ध्यान में रखकर कुछ अंग्रेजी शब्दों को यहाँ पर रख रहे हैं - चिटफंड, डबलडेकर, स्टैंड, रेस्तरां, स्कर्ट, बायकट, एडमिशन, सर्विसमन, कमांडर, फिल्ड आफिसर, ट्रेन, शटल, कार्ड, मिनट,हैण्डपम्प, रिकार्ड, फुटपाथ, मास्टर, कंपनी रेसकोर्स, ट्रांसफर, हैंडिल, मिलिटरी, मोटर कारें, पार्टी, मेंबर, कोल्ड स्टोरेज, मेकअप, मेड, सीट, डेली, रिपेयर, फर्स्ट टाइम, नोटबुक, टाईप, टैक्सी आदि।

अरबी,फारसी एवं उर्दू शब्द:-यथाजखीरा, तश्तरी, ख्वाहिश, खुदा, अजान, इमाम, मुल्लाओं, मौलवियों, इमामबाडा, शंहशाह, नवाब, हुजूर, नजाकत, इमामजस्तों, हकीम, हरमों, हाजियों, सीककबाबों, दिलकश, मिजाज, नियामत, खतना, मिल्कियत, फब्तियां, मजमा, मशहूर, तरतीब, खौफ, काफिला, शीशा, अलमारी, दवा, आदमकद, जेवरात, हिकारत, बदस्तूर, जर्रे-जर्रे, जहन, इत्मिनान, जन्नत, कलमा, नालिस, दास्ताँ, पेशाब,

एतराज, पीर, इल्जाम, नदारद, बर्दास्त, बुरखा, दायर, अख़बार, मुजलिस,इस्लामिया, खिलाफ आदि।

देशज शब्द:- भीत, बसापत, भभकती, कटरे, चामड, रईए, पछवा, धींगामुश्ती, बक्खल, बलदों, पसरना, मुर्दारी, जीमने, चीड़ा-फाड़ी, लौंडे लफाड़े, औलादे, रेज, छज्जे, फेफड़ानाल पोतड़े, चौधराहट,हाडा, भडभूंजे, पाथती, फिसड्डी, जमाऊ, टोकनी, मिट्टी का लप्पड़, कुडली, सपड, शक्कर बूरा, जीमना, घुआरे के चटनी, रमडा, लप्पड़, हिकारन, जीमना, ताड़का, कानी, मिस्सी आदि।

मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ:- मुहावरे, कहावते एवं लोकोक्तियाँ किसी भाषा की यथार्थ निधि होती है। मुहावरा एक शब्द समूह है। जिसका प्रयोग वाक्य के अंतर्गत होता। तथा लिंग वचन के अनुसार उसमें परिवर्तन होता है। लोकोक्ति एक सम्पूर्ण एवं स्वतंत्र वाक्य है, जिसका प्रयोग वाक्य समूहों के अंतर्गत किया जाता है।

'अपने-अपने पिंजरे' में इन मुहावरों का प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में कसावट आ गयी है। क्रमशः भाग 1 व 2 से मुहावरे उद्धृत है-भाग 1-

"चेहरा सुर्ख होना।

तार-तार होना।

धुंवा-धुंवा होना।

दुखती रग पर हाथ रखना।

खून खौलना।

शेखी बखारना।

फुला न समाना।"(अपने-अपने पिंजरे भाग 1)

भाग-2 – "दोहरी होना।

आंख मिचौली का खेल करना।

मारा-मारा फिरना।

घिग्गी बंध जाना।

काठ मार जाना।

जली कटी सुनाना।

हक्का बक्का रह जाना।

चहल कदमी करना।

खाना-ख़राब करना।

फूल कर कुप्पा हो जाना।

आग बबूला होना।"[4] (अपने-अपने पिंजरे भाग 2)

लोकोक्तियाँ:- लोकोक्तियाँ आत्मकथा में बहुत कम प्रयुक्त हुई है।

यथा-

“करेला और नीम चढ़ा।”[5]

अशिष्ट एवं अश्लील शब्द:- जैसे परिवेश में लेखक रहता है उसी परिवेश की जातिवाचक, अश्लील एवं अशिष्ट भाषा का प्रयोग इस आत्मकथा में हुआ है। यथा-

“ बता भोसड़े मरानी, क्यूँ गयी थी कोठे पे।”[6]

“चल चोद्दे”[7]

“म्हारे घर चमारों की खात्तर पानी न है।”[8]

“घासवालियों पर खूब कहर ढाया जाता था। उनके नाड़े वही खेतों में टूटते थे। उनके नाड़े तोड़ना सवर्ण अपना पैदाइशी अधिकार समझते थे।”[9]

जूठन –ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकि मुजफ्फरपुर जनपद से है। यहाँ खड़ी बोली प्रसिद्द हैए। आत्मकथा में जिस भाषा का प्रयोग वे प्रयोग करते हैं, वह प्रादेशिक लिए हुए है। दलित साहित्य की भाषा की सारी विशेषताएं इनकी आत्मकथा में दृष्टिगत होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत ‘जूठन’ में प्रयुक्त अंग्रेजी, अरबी,फारसी तथा उर्दू और देशी देशी शब्दों को यहाँ पर देखेंगे।

अंग्रेजी शब्द:- बेसिक प्राइमरी स्कूल, मास्टर, हैण्डपम्प, हेडमास्टर, सेक्शन, मानिटर, सर्वे, आफ इंडिया, प्लास्टर, डिग्री, इंटर कॉलेज, ड्रायक्लीनर, प्रिसिपल, ड्यूटी, काउंटर, स्टेशन, पेंटिंग, क्वार्टर, मशीनरी, जीप, पब्लिसिटी, मैस,पोस्टिड, रेल्वे लाइन, लाउडनेस, पेट्रोल, ऑफिस, हॉस्टल, प्राइवेट, बम फैक्टरी, रूम पार्टनर, इंचार्ज, किलोमीटर, एरोगेंट, सायरन, फ़ोर्स, बोर्ड, मनी आर्डर, ट्रेनिंग सेंटर आदि।

मराठी शब्द:- साहेब मी खर सांगतो, शपथ देवाची साहेब, मी खर बोलतो आदि ।

अरबी, एवं उर्दू शब्द:- मदरसा, गुसलखाना, जिस्म, इजाजत, शख्सियत, पनाह, जलील, जुल्म, बावजूद आदि।

देशज शब्द:- जोहड़, काढ़े, घेर, बुग्गी, बोटी, उतरन, सांटे, झींझाडना, पुच्छा,पसरा, पूली, खारवे, गुन्गड़, ओपरा, फफक, थुथनी आदि।

मुहावरे:- कन्नी काटना, गाज गिरना, बंध जाना, जान छिड़कना, आग बबूला होना, 'खून खौलना'[10] आदि।

अशिष्ट एवं अश्लील शब्द:- "अबे ओ चूहड़े के, मादरचोद, कहाँ घुस गया....अपनी माँ ..."[11]

"अबे चूहड़े के...आजा ....दो अच्छर क्या पढ़ , सोहरे का दिमाग चढ़ गिया है....अबे, औकात मत भूल....."[12]

इस तरह से हम देख सकते है कि अपने-अपने पंजरे और जूठन में अंग्रेजी, अरबी,फारसी एवं उर्दू तथा देशज और मुहावरों,अश्लील, अशिष्ट शब्दों का प्रयोग यथावश्यक जगह पर किया गया है। शोध की सीमा का ध्यान रखते हुए हमने सिर्फ हिंदी की दो आत्मकथा का भाषा संबंधी विश्लेषण किया है अत: भाषा की दृष्टि से ये दोनों आत्मकथायें समृद्ध है। अत: यहाँ पर सिर्फ 'हिंदी दलित आत्मकथा में भाषा' पर विचार किया है, अब मराठी दलित आत्मकथा पर विचार करेंगे।

1.2 मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा

दलित आत्मकथाओं की शुरुआत मराठी दलित आत्मकथाओं से हुई है। जिस तरह से मराठी दलित आत्मकथाओं में भाषा का प्रयोग हुआ है ठीक उसी प्रकार हिंदी दलित आत्मकथाओं में हुआ है। जिस तरह से हिंदी दलित आत्मकथाओं में अंग्रेजी, अरबी-फारसी-उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है उस तरह से हिंदी में नहीं हुआ है, या बहुत कम हुआ है। दरअसल, मराठी में जीतनी भी आत्मकथाएं लिखी गयीं है उसमें महाराष्ट्र के अलग-अलग विभागों(मराठवाडा, विदर्भ, पश्चिम महाराष्ट्र, खानदेश, कोंकण) में बोली जानी वाली स्थानीय ग्रामीण मराठी बोली का प्रयोग प्रमुखता से हुआ है। इसको हम मराठी की दो आत्मकथाओं के माध्यम से समझ सकते हैं।

आयदान- उर्मिला पवार

मराठी की यह प्रसिद्द आत्मकथा है। उर्मिला पवार कोंकण के एक ग्रामीण इलाके में रहती थी। इसलिए इस आत्मकथा में कोंकण की 'मालवनी' ग्रामीण बोली भाषा का प्रयोग हुआ है। दरअसल, आत्मकथा के शुरुआत में मालवनी बोली भाषा का प्रयोग होता है। जब लेखिका अपने गाँव में रहती है तबतक ही इस बोली भाषा का प्रयोग होता है, बाद में जब लेखिका शहर जाती है तब पुणेरी मराठी का इस्तेमाल होता दिखाई देता है। 'आयदान' में ज्यादातर ग्रामीण मालवनी बोली का प्रयोग हुआ है।

ग्रामीण मराठी शब्द:- मारवलंव(मारना), शेनते(उपले थापना), रांडमुंड(विधवा), तरास(त्रास), शेतताना(उपले थापने हुए), पुली(फोड़ा), लुगड़(साड़ी), सासूक(साँस), आटू(कोंकण का एक व्यंजन), त्याका(उसको), इलास(आये हो), पावन्यानू(अथियों), कलवनी सार(रस्सेवाली सब्जी), शिबं(मटके का ढ़कन), डाली(चटाई), माल्टी(खाना खाना का बर्तन) इत्यादि।

हिंदी शब्द:- पूरी आत्मकथा में एक वाक्य हिंदी का आया है –

"जहाँगीर की जनार्दन जा हमारे दिल....हनुमान दिल के रखवाले हैं।"[13]

मुहावरें एवं लोकोक्तियाँ:-

"कोणरे भांडतात? ते महार जेवतात."[14] (कोण लड़ाई कर रहा है? वे महार खाना खा रहे है।)

"लेकीचे माहेरी, जावयाचे सासरवाडी कौतुक."[15] (लड़की की अपने मैके, जमाई की अपने ससुराल क़ीमत होती है।)

"न्होवरा म्हनाला रांड तं जग म्हनतं रांड."[16] (पति कहा बदचलन तो पूरा समाज बदचलन कहने लगता है।)

"अचाट खानं नि मसनात जानं ."[17] (बहुत ज्यादा खाना मतलब स्मशान जाना।)

अशिष्ट एवं अश्लील शब्द:-

"मेल्याचं मड बसवलं ते "[18]

"त्या आयझव्याला हे डोंगर घाटया, घबी,रान का दिसलं नाय?"[19]

"बग कशी गांड फाड़ते ती ..."[20]

"ह्या म्हारांच्या जागंत आमी पानी पिनार नाय म्हनून... "[21]

उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड

'उचल्या' आत्मकथा लक्ष्मण गायकवाड की है। यह आत्मकथा महाराष्ट्र के 'मराठवाड़ा' क्षेत्र से संबंधित है। इसमें मराठवाडी ग्रामीण बोली भाषा का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही अंग्रेजी और हिंदी भाषा का प्रयोग भी हुआ है।

अंग्रेजी भाषा के शब्द:-बॉडी, मैनेजर, वोहर टाइम, सुपरवासर, नोटिस, मील, मशीन, बोनस, किलो, बोर्ड, डायरेक्टर, टीबी, यूनियन, नंबर,

आपरेंटीस, टेम्परशी, मेकैनिक, साईड, डबल, डाक्टर, पिक्चर, इण्डस्ट्रीज , कोर्ट, लेबर, हाटेल, चेरमन, सेक्रेटरी, रजिस्ट्रेशन, ऑफिस, स्टाफ, कैंटीन आदि।

हिंदी शब्द:- "बोल कहाँ-कहाँ रख्खा है पैसा-सोना, नहीं तो बहोत मार खाओगे।"[22]

"तेरे रांड को मालूम होगा।"[23]

"सिर सलामत तो पगड़ी हजार! कायको जान गमाते।"[24]

"नहीं भाई, जिद्द मत करो,हमारी ड्यूटी है, तुमको बचाने की।"[25]

"मजीद तोड़ो मंदिर तोड़ो पर माणिकराव का दिल मत तोड़ो।"[26]

"तुम्हारे लोगों को तो बहुत सवलती मिल रही है, आप मेरी जैसी संस्था खोलो।"[27]

"साहब को मत उठाव।"[28]

ग्रामीण मराठी शब्द:- खिस्तंग मत्ताया(जेब काटने), मुट्ठल(गट्टा), गुरंदा(खबरी), दाखला(टीसी), संतामुचलर(सप्ताह के बाजार में चोरी करने वाले), फेफ्र(मिरगी), गुन्ना(सूअर), वालतुकडंल(सूअर की चमड़ी), इटवा(कलेजा), गरदाड(गड्डा), तलंगे(पाटील या मुखिया), म्या(मैं),

कुठंबी(कहीं पर भी), कुलम(कूल), कातावू(गुस्सा हो जाना), तिरगाया(चोरी करने) इत्यादि।

अशिष्ट एवं अश्लील शब्द:- "गांडीला सिगारेटनं पोलवतात."[29]

"ह्यांच्या आयला, पाथरुट मांजर बी खातेत."[30]

"आजीला तर घरात काय आहे सांग म्हणून थानाला धरु-धरु मारत होते."[31]

"सकाल जिकड तिकड़ गुवाचं पवंच्या पवं रहाचं ."[32]

मराठी लगभग सभी दलित आत्मकथाओं में अंग्रेजी, ग्रामीण भाषा के शब्द देखने को मिल जाते हैं। यहाँ शोध की सीमा को ध्यान में रखते हुए सिर्फ दो आत्मकथाओं में प्रयुक्त शब्दों का जिक्र किया गया है।

5.3 हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन

इस तरह से हम देख सकते हैं कि हिंदी और मराठी दलित लेखकों ने अपनी प्रादेशिक भाषा को गौरांवित करते हुए अपने-अपने साहित्य को समृद्ध किया है। साहित्य के सम्प्रेषण में अनुभूति पक्ष जितना महत्त्वपूर्ण होता है, उतना ही अभिव्यक्ति पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता। इस अभिव्यक्ति पक्ष की महत्त्वपूर्ण इकाई भाषा है। साहित्यकार की भाषा उसने जहाँ से अनुभवों को ग्रहण किया है, वहाँ से संबंधित होना आवश्यक है। दलित जिस भाषा में जीते हैं, रहते हैं उसी में अपनी स्मृतियों एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति करते हैं।

जिसमें गाली-गलोज, गू, पेशाब, शारीरिक गुप्तांगों के नामों का आना उनके लिए साधारण सी बात है चूँकि वे शब्द, वह बोली उनके जीवन का अभिन्न अंग है। गाली-गलोज संपन्न भाषा को साहित्य के लिए घातक बताकर कुछ आलोचकों ने इसे अश्लील भाषा, गवारों की भाषा, बोली भाषा, आक्रोशमय भाषा, व्याकरण के नियम न मानने वाली भाषा कहकर उपहास उड़ाया था। इन उपहासों का उत्तर देते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- “कुछ आलोचक दलित साहित्य में गंदी और अश्लील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते हैं। उन्हें लगता साहित्य का पाठ पवित्र होना चाहिए। भले ही उनमें बनावटी भाषा जो अभिजात्य संस्कारों में रची-बसी हो, का प्रयोग करना पड़े। यह धरना उचित नहीं, क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता वह जीवन के कटू यथार्थ से रू-ब-रू होता है।”[33] अब यह भाषा अपने जीवनानुभवों की प्रखरता एवं दाहकता के कारण उन विरोधों का खंडन कर अपना स्थान बनाने में संभव हुई है। अपने कटू अनुभवों के कारण भाषा में तेज है। अत: हिंदी और मराठी सभी दलित आत्मकथाकारों ने अपनी-अपनी आत्मकथाओं में देशी(ग्रामीण) शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी-उर्दू, अंग्रेजी तथा प्रादेशिक बोली भाषा का प्रचुर मात्र में प्रयोग किया है। इसके कारण हिंदी तथा मराठी साहित्य को नए शब्द, नए रीति-रिवाज, नयी संस्कृति, नए मुहावरे-लोकोक्तियाँ मिली हैं और दोनों भाषा के साहित्य का वृहतर विकास ही हुआ है।

अंततः हम कह सकते है कि दलित साहित्य की भाषा ज्वाला अथवा ज्वालामुखी जैसी है, ऐसा कहा तो गलत नहीं होगा। नकार, विद्रोह, आक्रोश व्यक्त करने वाली भाषा कभी तत्सम नहीं होगी। अनेक उतार-चढ़ाव चढ़कर यह भाषा लेखक का आक्रोश प्रकट करती है। जिस प्रदेश के लेखक हैं, जिस स्थान विशेष में लेखक की जिंदगी गुजरी है वहाँ की भाषा का उपयोग आत्मकथाओं में हुआ है। स्थान विशेष की बोली, तद्भव शब्द, आवश्यकता होगी तो अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, मुहावरे, कहावतों से सजी यह भाषा किसी कोश की भाषा नहीं है। दलित साहित्य के हजारों शब्द किसी कोश में नहीं मिलेंगे। साहित्य जगत को एक नई भाषा देने का काम दलित आत्मकथाओं ने किया है।

संदर्भ

[1] दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.104, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा.ली. अंसारी मार्ग,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2001

[2] दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र- शरणकुमार लिम्बाले, अनु.रमणिका गुप्ता, पृ.सं.31-32,वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

[3] प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास- सूर्यनारायण रणसुभे, पृ.सं.226, लातूर जिला हिंदी साहित्य परिषद्, लातूर

[4] अपने-अपने पिंजरे भाग 2- मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.23

[5] अपने-अपने पिंजरे भाग 2- मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.110

[6] अपने-अपने पिंजरे भाग 1- मोहनदास नैमिशराय, पृ. सं.-21

[7] वही, पृ.सं.91

[8] वही,पृ.सं.69

[9] अपने-अपने पिंजरे भाग 2- मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.27

[10] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.123

[11] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.10

[12] जूठन-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं.72

[13] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.22

[14] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.15

[15] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.156

[16] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.164

[17] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.22

[18] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.2

[19] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.2

[20] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.8

[21] आयदान-उर्मिला पवार, पृ.सं.70

[22] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.02

[23] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.02

[24] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.129

[25] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.129

[26] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.142

[27] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.138

[28] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.143

[29] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.04

[30] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.16

[31] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.04

[32] उचल्या-लक्ष्मण गायकवाड, पृ.सं.10

[33] दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र-ओमप्रकाश वाल्मीकि पृ.सं.81

उपसंहार

दलित साहित्य के सन्दर्भ में जिस एक बात ने वृहत पाठक वर्ग को सर्वाधिक चौंकाया और आकर्षित किया वह थीं दलित लेखकों की आत्मकथाएँ। साठ के दशक में दलित आत्मकथाओं का आना किसी जलजले से कम नहीं था। पहले यह तूफान मराठी (महाराष्ट्र) में आया फिर हिंदी साहित्य में। साहित्य में इसे हम परिवर्तन का क्रांतिकारी दौर भी कह सकते हैं। सामाजिक बदलाव की इस धारा का किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध भी। विरोध तो खास तौर से उच्च वर्ण के लोगों द्वारा हुआ चूँकि उनकी सामाजिक स्थिति को धक्का लग गया था। मूख्यधारा का हिंदी और मराठी साहित्य, साहित्य को समाज का दर्पण मानता है लेकिन क्या उस दर्पण में दलित समाज का चेहरा दिखाई देता है? नहीं..... क्योंकि हजारों वर्षों से उच्च वर्ण की गुलामी करने वाले दलितों को तथाकथित उच्च वर्ण के समाज ने बहिष्कृत कर के रखा है। इन बहिष्कृत दलित समुदाय के सन्दर्भ में कोई सवर्ण क्यों लिखेगा? और अगर कोई लिखेगा तब वह दलित समुदाय का ऐसा चेहरा सामने लायेगा जो वास्तव में होता नहीं है जैसे दलित कामचोर होते हैं, वे गंवार होते हैं आदि। लेकिन लिखने वाले सवर्ण लेखक यह नहीं सोचते कि उनकी यह स्थिति किसने की है। इस सन्दर्भ में वे खामोश बैठते हैं। इसलिए आज तक मूख्यधारा के हिंदी और मराठी साहित्य में समाज का वास्तविक चित्र सामने नहीं आया। लेकिन जब दलित लेखकों की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई तब उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र का सामाजिक इतिहास ही प्रस्तुत

कर डाला। उसके बाद ही समाज का वास्तविक चेहरा सामने आया है। इन आत्मकथाओं में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक समस्याओं का चित्रण भी लेखकों ने किया है। खास तौर से सामाजिक स्थितियों पर दलित लेखकों का ध्यान गया है। दरअसल, साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन के दो दृष्टिकोण हैं- एक, समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य का अध्ययन और दूसरा है- लेखक के सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से अध्ययन। इस अध्ययन में दोनों दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है।

भारत विविधता से सम्पन्न एवं परिपूर्ण देश माना जाता है। लेकिन इस सम्पन्नता एवं परिपूर्णता में एक खालीपन दिखाई देता है, वह अस्पृश्य लोगों का है। आज भी जाति-पाति के भेद के नीचे दबा एक हिस्सा भारत में अस्पृश्यता, भूख, दारिद्र्य के साथ संघर्ष कर रहा है। भारत को स्वतंत्रता मिली पर इन्हें आज भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिली। आज भी वे सामूहिक अन्याय-अत्याचार, बलात्कार, शोषण से पीड़ित हैं। दलित समाज को उनके अस्मिता का, उनके मनुष्य होने का, सामाजिक विषमता में उन पर होने वाले अन्याय का, अस्पृश्य जीवन की यातनाओं का तीव्र एहसास, प्रमुखतः: डॉ.बाबासाहेब के कारण ही आया है। और इसी एहसास की निष्पत्ति मराठी दलित आत्मकथाएं हैं, जो दलित जीवन के सामाजिक पक्ष को बड़ी प्रखरता से यथार्थ रूप में सामने लाने का काम करती हैं।

दलित साहित्य की शुरुआत मराठी से होती है। अत: दलित आत्मकथा का प्रारंभ भी मराठी से हुआ है। मराठी दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत गंगाधर पानतावने व्दारा संपादित पत्रिका 'अस्मितादर्श' ई.स.1976 के दीपावली विशेषांक में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद से मानी जाती है, जिसमें मराठी के प्रसिद्ध दलित लेखकों के 'मैं और मेरा जीवन' शीर्षक से संक्षिप्त आत्मकथ्य प्रकाशित हुए थे। ठीक उसी तरह हिंदी के दलित साहित्य में आत्मवृत्त लेखन की शुरुआत प्रसिद्ध दलित लेखकों के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित आत्मकथ्यों के बाद ही हुई। डॉ. आंबेडकर ने अपना कोई आत्मवृत्त नहीं लिखा लेकिन एक आत्मकथ्य जरूर लिखा था जो 'मेरा जीवन' शीर्षक से 'जनता' पत्र में 6 नवंबर, 1954 के अंक में प्रकाशित हुआ था। दलित आत्मकथा के लेखन इतिहास के बारे में यह बात स्पष्ट होती है कि डॉ. आंबेडकर के 'मेरा जीवन' नामक आत्मकथ्य लिखने के बाद आगे न उन्होंने अपने जीवन को आत्मकथा के रूप में शब्द बद्ध किया और न किसी दूसरे लेखक ने वैसा प्रयास किया है। डॉ.अम्बेडकर के देहांत के बाद लगभग बाईस साल बाद मराठी दलित साहित्य के प्रमुख लेखक दया पवार ने ई.स.1978 में 'बलुतं'(अछूत) नामक आत्मकथा लिखी है।

दलित साहित्य ने न केवल साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है अपितु साहित्य की दुनिया को व्यक्ति, समाज, धर्म, राष्ट्र आदि को देखने और समझने की एक नयी दृष्टि दी है। दलित आत्मकथा लेखन ने साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध कर उसे एक नया आयाम दिया है। दलित साहित्य में आत्मकथाएं ही

सर्वाधिक चर्चित हैं। दरअसल, दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता है कि एक आत्मकथा मात्र उसके लेखक की, एक दलित व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होती, अपितु कहीं न कहीं वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है। क्योंकि भले ही दलित आत्मकथा में आत्मथाकार द्वारा भोगी हुई यातना, अभाव, अपमान और संघर्ष का चित्रण होता है किन्तु दलित समाज के समस्त लोग किसी न किसी स्तर पर कम या ज्यादा जातीय अपमान, घृणा, उपेक्षा और वंचना के शिकार होते हैं। इसलिए दलित आत्मकथाकार के जीवन का यथार्थ समस्त दलित समाज का सच होता है। आत्मकथा का आधार यथार्थ होता है और दलित आत्मकथाओं में समाज द्वारा दलितों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय-अत्याचार, असमानता, जातिगत भेदभाव, शोषण और अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। अधिकांश दलित आत्मकथाओं में यह सब चित्रित है, इसलिए साहित्य के साथ-साथ ये आत्मकथाएं भारतीय समाज का इतिहास भी है। दलित आत्मकथाओं में दर्ज इतिहास भारतीय समाज की उस अमानवीयता और असहिष्णुता का इतिहास है, जिसका उल्लेख इतिहास के ग्रंथों में नहीं है। इस दृष्टिकोण से देखें तो दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में मानवीय चेतना और क्रांति का सूत्रपात किया है।

'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' इस शोध विषय को हमने पांच अध्यायों में बांटा है। पहला अध्याय है 'साहित्य के

समाजशास्त्रीय अध्ययन की नयी चुनौतियाँ : दलित विमर्श के विशेष संदर्भ में' इसके अंतर्गत सबसे पहले पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशात्र को समझने प्रयास किया है। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र के विवेचन के बाद जब हम दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श पर बात करते हैं और इन विमर्शों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हैं तब हमें निश्चित रूप से भारतीय जाति-व्यवस्था, पितृसत्तात्मकता, ब्राह्मणवाद आदि को समझना पड़ेगा। चूँकि इन्हीं के इर्द-गिर्द ये विमर्श घूमते हैं और उनका विरोध करते हैं। इसके लिए गोल्डमान का 'उत्पत्ति मूलक संरचनावाद' अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। भारतीय समाज व्यवस्था के सन्दर्भ डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर कहते हैं – भारतीय समाज व्यवस्था एक ऐसी बहुमंजिला इमारत है जिसमें व्यक्ति जिस माले में पैदा होता है, उसी में मर जाता है। इमारत से बहार निकलने का कोई दरवाजा नहीं है। इसी समाज-व्यवस्था ने मनुष्य को बांध कर रखा है वह मुक्त होकर कोई कार्य नहीं कर सकता। और इस बहुमंजिला इमारत में जो सबसे ऊपर उन्हीं लोगों ने (प्राचीन से लेकर अब तक)साहित्य की रचना की तब हम सहज रूप से अंदाजा भी लगा सकते हैं कि उन लोगों ने अपने साहित्य में किन लोगों का गुणगान किया होगा और किन लोगों का तिरस्कार किया होगा? तिरस्कार के भागी निश्चित रूप से दलित थे। आदिवासी इस समाज-व्यवस्था से दूर जंगल में थे लेकिन दलित एवं स्त्रियों ने इस समाज-व्यवस्था और पितृसत्तात्मकता के क्रूरता को झेला है। शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं – बाबासाहब के मतानुसार हर ग्रन्थ को समाज और मनुष्य का

जिम्मेदार होना चाहिए। आगे फिर कहते हैं- बाबासाहब का कहना है कि आम आदमी की महत्ता से प्रेरणा लेकर लेखकों को लेखन करना चाहिए। वे कहते हैं अपने साहित्य की रचनाओं में उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को परिष्कृत कीजिए। अपनी कलम की रोशनी को इस तरह परिवर्तित कीजिए कि गाँव-देहातों का अँधेरा दूर हो। यह मत भूलिए कि अपने देश में दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बहुत बड़ी है। उसकी पीड़ा और व्यथा को भली-भांति जान लीजिए और अपने साहित्य द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयास कीजिए। इसमें सच्ची मानवता निहित है। डॉ. आंबेडकर के साफ-साफ विचार हैं कि साहित्य का व्यापक विषय आम जन होना चाहिए मतलब समाज का सबसे उत्पीडित तबका – वह गरीब भी है, दलित भी, महिला भी, आदिवासी भी और अल्पसंख्यक भी। साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि साहित्य में समाज को विकसित करने के गुण भी होने चाहिए। अब तक के भारतीय साहित्य पर कुछ खास लोगों का वर्चस्व रहा है और सिर्फ रसास्वादन के लिए ही लिखा गया(आधुनिक साहित्य के कुछ अपवाद छोड़ कर)।इस सन्दर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं – साहित्य में रस, आनंद, कला के मर्मज्ञों ने जनमानस के दुःख-दर्द और उसकी पीड़ा को जिस तरह छिन्न-भिन्न किया था, वह एक दुःख दायी दौर था। दलित साहित्य अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिक दृढ़ता से साहित्य और समाज के संबंधों को फिर से जोड़ने का कठिन और जरूरी काम कर रहा है। तेन साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं लेकिन भारतीय साहित्य के दर्पण में दलित,

आदिवासी एवं स्त्री का रूप दिखाई नहीं देता । वाल्मीकि जी साहित्य और समाज के संबंधों को फिर से जोड़ने की कठिनाई की जब बात कर रहे हैं तब यह कठिनाई कहा पर आती है, यह जानना जरूरी है। इसका उत्तर भी वे खुद ही देते हैं – साहित्य और समाज अलग-अलग इकाई होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्य में आलोचना का जो विशिष्ट महत्व होता है, वही उसे समाज-सापेक्ष, वस्तुनिष्ठ बनाता है। चूँकि मूख्यधारा के रचनाकारों, आलोचकों ने अपने अब तक के साहित्य में दलितों को कामचोर, गंवार ही समझा, आदिवासी को जंगली समझा, स्त्रियों को सिर्फ भोग की वास्तु समझा। साथ ही साथ दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श पर आरोप लगाये कि उनका भाषा-शिल्प, सौंदर्यशास्त्र, कथानक आदि निकृष्ट हैं। इन लोगों के लिए वाल्मीकि जी कहते हैं – वे तमाम रचनाकार, आलोचक आकर्षक शब्दावली और तर्क जाल उनकी विशेषता होती है, वे लोग यथास्थिति वादी और आत्मतुष्ट लोग होते हैं, और सामाजिक अध्ययन के सवालों से बचते हैं। यह भी एक कारण है कि भारतीय साहित्य के समाजशास्त्रियों ने साहित्य के समाजशास्त्र में कोई विशेष परिस्थापनाएं नहीं दी। भारतीय समाजशास्त्र कुछ-कुछ एंटीसेप्टिक किस्म का है। वह अपने क्षेत्र में दक्षता हासिल करने की कोशिश करता हुआ तो दिखाई देता है और उसमें तथ्यों के प्रति वफ़ादारी की प्रवृत्ति भी है लेकिन उसमें भारतीय परिस्थिति में निहित जटिलता की गहरी समझ विकसित नहीं कर पायी है। हमारे विद्वान एक साझा सहमति के आधार पर क्लर्कों की तरह समाजशास्त्र रचने में जुटे रहते हैं और हालात में

हुए परिवर्तनों को नापने के लिए अपर्याप्त पैमानों का इस्तेमाल करके अपना काम चला लेते हैं। साहित्य के समाजशास्त्र के सन्दर्भ में भी यह बात लागू होती है। क्योंकि दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श ने तथाकथित मूख्यधारा के साहित्य के परंपरागत मानदंडों को चुनौती दी है । आम धारणा है कि समाजशास्त्र समाज को समझने का सशक्त माध्यम है । समाजशास्त्र की अवधारणा, उपागम और निष्कर्ष पाश्चात्य समाज दर्शन पर आधारित है, तो भारतीय समाज का प्रामाणिक ज्ञान उससे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है । स्वदेशी समाजशास्त्र का आधार इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य है, जिसमें दलितों का न तो उचित प्रतिनिधित्व है और न ही महत्व । इसलिए भारतीय समाजशास्त्र के माध्यम से दलित समाज की सही समझ नहीं विकसित की जा सकी है । लेकिन दलित साहित्य के एक प्रतिरोधी स्वर से जो वैदिक काल से अब तक चला आ रहा है उससे किया जा सकता है । जिसकी शुरुआत चार्वाक से होती है और दलित पैंथर तक आती है । उसके बाद दलित साहित्य का उद्भव होता है । अतः भारतीय समाज-व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय इतिहास को समझना भी जरूरी है, जिसमें वर्चस्ववादी संस्कृति के बरक्स प्रतिरोध की संस्कृति भी मौजूद है । इसलिए पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र के साथ-साथ दलित, आदिवासी एवं स्त्री विमर्श के समाजशास्त्र को समझने के लिए प्रतिरोधी संस्कृति को समझना भी जरुरी है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है 'दलित साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन : वैकल्पिक चिंतन की तलाश'। इस अध्याय के अंतर्गत दलित साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए वैकल्पिक चिंतन को समझने की कोशिश की गयी है। जिसके अंतर्गत हमने लोकायत/चार्वाक, बौद्ध धर्म, सिद्ध-नाथ-संत मत, ज्योतिबा फुले, सावित्रिबाई फुले, पेरियार, अछूतानंद, चाँद गुरू, डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर और दलित पैंथर के मतों, विचारों का विस्तार से अध्ययन किया है। अत: इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि चार्वाक से लेकर 'दलित पैंथर' तक सबका केंद्र बिंदु मनुष्य है और उस मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए सभी प्रयत्नशील हैं। ये सभी चिंतक एक ऐसी समाज व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील थे जहाँ मनुष्य के प्रति आदर हो, समाज में कोई ऊँच-नीच न हो, कोई जाति, धर्म के नाम पर किसी को नीचा न दिखाता हो। आधुनिक काल के दलित चिंतकों ने सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को भी दलित विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है। अब तक के सभी दलित चिंतकों ने दलित शिक्षा को अति आवश्यक माना है, जिससे दलित व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाता है और संघर्ष करता है। इन्हीं के मतों एवं विचारों का प्रभाव हम दलित आत्मकथाकारों पर देख सकते हैं।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है 'भारतीय दलित साहित्य में दलित आत्मकथा एक आलोचनात्मक दृष्टि'। इस अध्याय के अंतर्गत भारतीय दलित

आत्मकथाओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया। इस अध्याय में विश्लेषित एवं नामोल्लेखित सभी भारतीय आत्मकथाओं में लेखक के जन्म से आत्मकथा लिखने तक का परिवेश सामान्य रूप से चित्रित हुआ है । लेकिन 'मैं' के साथ 'वे' भी प्रमुख रूप से उपस्थित हैं । इस परिवेश में दलितों की समस्याएँ भी है, जो आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इनमें सबसे प्रमुख गरीबी, भूख, शिक्षा का अभाव, अस्पृश्यता, अस्थायी जीवन, शोषण की समस्याएँ हैं । दलित आत्मकथाओं में दलितत्व का एहसास होने के पीछे डॉ. बाबासाहेब के वैचारिक प्रेरणा को बहुत से लेखकों ने स्वीकार किया है । साथ ही यह आत्मकथाएँ दलित आन्दोलन एवं दलितों में मौजूद अंतर्विरोधों को भी अभिव्यक्त करती है । यह आत्मकथाएँ दलितों के लोक संस्कृति, लोकविश्वास एवं लोकव्यवहार को भी अभिव्यक्त करती हैं, जिससे प्रादेशिक संस्कृति के साथ ही वहाँ के प्राकृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि स्थितियों से परिचित कराती हैं। दलित आत्मकथाएँ अनुभूति के स्तर पर ही नहीं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी तथाकथित मूख्यधारा के साहित्य से अलग प्रकार की है । आत्मकथाओं की भाषा दलितों के जीवन से जुड़ी हुई है, जो सहज और सरल है । जिसमें दलितों के जीवन में व्याप्त श्लील, अश्लील, गाली-गलोच भरे शब्दों का प्रयोग हुआ है । साथ ही जाति के नाम पर सवर्णों द्वारा दी जानी वाली गालियाँ, उनका दलितों के साथ बात करने का तरीका आदि को चित्रित किया गया है । लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का भी इन आत्मकथाओं में प्रयोग हुआ है । अंततः हम कह सकते हैं कि भारतीय दलित आत्मकथाएँ

दलितों की वास्तविकता का जीवंत दस्तावेज है, जिसको अभिव्यक्त करते हुए कभी-कभी लेखक/लेखिका आक्रोशित एवं विद्रोही हो जाते हैं । लेकिन यह आक्रोश और विद्रोह शोषण, अन्याय-अत्याचार एवं समग्र विषमता के खिलाफ है और समता(समानता) के नजदीक है ।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसको हमने छः भागों में बांटा है। पहले भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाओं में चित्रित देशकाल वातावरण'। इसके अंतर्गत दलित आत्मकथाओं में चित्रित देशकाल वातावरण को दिखाया गया है। जिसके अंतर्गत हम देख सकते है कि 1978 से दलित आत्मकथाएं लिखी जा रही और अभी 2022 तक भी लिखी जा रही है। इसी की चर्चा इस भाग में की गयी है। इस अध्याय के दूसरे भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और समस्याएँ'। इसके अंतर्गत हम देख सकते है कि मराठी और हिंदी दलित आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति और उनकी समस्याएँ हैं। जिसके अंतर्गत दलित समाज को गरीबी के कारण मूलभूत सुविधाएँ- रोटी, कपड़ा, मकान भी न मिलने के वास्तव को हमारे सामने रखती हैं। लगभग सभी दलित आत्मकथाओं में भूख और गरीबी का विदारक चित्रण हुआ है। इस अध्याय के तीसरे भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं में चित्रित दलित स्त्री जीवन का यथार्थ'। इसके अंतर्गत हम देख सकते हैं कि हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री बहुत संघर्षशील दिखाई

देती है। वह दोहरा शोषण झेलते हुए भी अपने पूरे परिवार के लिए दिन-रात परिश्रम करती हुई दिखाई देती है। दलित स्त्री मेहनत से कभी-भी नहीं कतराती वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलकर काम करती है। बहार काम करने के बाद घर का भी काम वह करती है। फिर भी दलित स्त्री को कुछ दलित पुरुष से उपेक्षा ही झेलनी पड़ती है। दलित स्त्री समाज और परिवार से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। चौथे भाग का शीर्षक है 'आत्मकथाओं में विभिन्न जन संस्कृतियों का यथार्थ चित्रण'। इसके अंतर्गत हमने आत्मकथाओं में चित्रित सभी जातियों की परंपरा, रस्म-रिवाज, भाषा, लोक विश्वास, विवाह पद्धति, देवी-देवता, त्यौहार, अन्त्यविधि आदि का संक्षिप्त में परिचय दिया है। इस अध्याय के पाँचवें भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं में दलित आन्दोलन एवं डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों की अभिव्यक्ति'। इसके अंतर्गत हमने दलित आन्दोलन और डॉ.बाबासाहेब के विचारों का दलितों लेखकों पर पड़े प्रभाव को एवं आत्मकथाओं में चित्रित उसकी अभिव्यक्ति को विस्तृत रूप से देखने का प्रयास किया है। इस अध्याय के छटे भाग का शीर्षक है 'दलित आत्मकथाओं का पाठक पर प्रभाव'। इसके अंतर्गत हमने आत्मकथाओं का पाठकों पर प्रभाव किस रूप में पड़ा है इसके ऊपर चर्चा की है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा का समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसको हमने तीन भागों में बांटा है एक,

'हिंदी आत्मकथाओं की भाषा', दो, 'मराठी आत्मकथाओं की भाषा' और तीन, 'हिंदी और मराठी दलित आत्मकथाओं की भाषा समाजशास्त्रीय अध्ययन'। इसके अंतर्गत हम देख सकते हैं कि दलित लेखकों ने अपनी प्रादेशिक भाषा को गौरांवित करते हुए अपने-अपने साहित्य को समृद्ध किया है। साहित्य के सम्प्रेषण में अनुभूति पक्ष जितना महत्त्वपूर्ण होता है, उतना ही अभिव्यक्ति पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता। इस अभिव्यक्ति पक्ष की महत्त्वपूर्ण इकाई भाषा है। साहित्यकार की भाषा उसने जहाँ से अनुभवों को ग्रहण किया है, वहाँ से संबंधित होना आवश्यक है। दलित जिस भाषा में जीते हैं, रहते हैं उसी में अपनी स्मृतियों एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति करते हैं। जिसमें गाली-गलोच, गू, पेशाब, शारीरिक गुप्तांगों के नामों का आना उनके लिए साधारण सी बात है चूँकि वे शब्द, वह बोली उनके जीवन का अभिन्न अंग है। गाली-गलोच संपन्न भाषा को साहित्य के लिए घातक बताकर कुछ आलोचकों ने इसे अश्लील भाषा, गवारों की भाषा, बोली भाषा, आक्रोशमय भाषा, व्याकरण के नियम न मानने वाली भाषा कहकर उपहास उड़ाया था। इन उपहासों का उत्तर देते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- कुछ आलोचक दलित साहित्य में गंदी और अश्लील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते हैं। उन्हें लगता साहित्य का पाठ पवित्र होना चाहिए। भले ही उनमें बनावटी भाषा जो अभिजात्य संस्कारों में रची-बसी हो, का प्रयोग करना पड़े। यह धरना उचित नहीं, क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता वह जीवन के कटू यथार्थ से रू-ब-रू होता है। अब यह भाषा अपने जीवनानुभवों की प्रखरता एवं दाहकता

के कारण उन विरोधों का खंडन कर अपना स्थान बनाने में संभव हुई है। अपने कटू अनुभवों के कारण भाषा में तेज है। अत: हिंदी और मराठी सभी दलित आत्मकथाकारों ने अपनी-अपनी आत्मकथाओं में देशी(ग्रामीण) शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी-उर्दू, अंग्रेजी तथा प्रादेशिक बोली भाषा का प्रचुर मात्र में प्रयोग किया है। इसके कारण हिंदी तथा मराठी साहित्य को नए शब्द, नए रीति-रिवाज, नयी संस्कृति, नए मुहावरे-लोकोक्तियाँ मिली हैं और दोनों भाषा के साहित्य का वृहतर विकास ही हुआ है। अंततः हम कह सकते है कि दलित साहित्य की भाषा ज्वाला अथवा ज्वालामुखी जैसी है, ऐसा कहा तो गलत नहीं होगा। नकार, विद्रोह, आक्रोश व्यक्त करने वाली भाषा कभी तत्सम नहीं होगी । अनेक उतार-चढ़ाव चढ़कर यह भाषा लेखक आक्रोश प्रकट करती है। जिस प्रदेश के लेखक हैं, जिस स्थान विशेष में लेखक की जिंदगी गुजरी है वहाँ की भाषा का उपयोग आत्मकथाओं में हुआ है। स्थान विशेष की बोली, तद्भव शब्द, आवश्यकता होगी तो अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, मुहावरे, कहावतों से सजी यह भाषा किसी कोश की भाषा नहीं है। दलित साहित्य के हजारों शब्द किसी कोश में नहीं मिलेंगे। साहित्य जगत को एक नई भाषा देने का काम दलित आत्मकथाओं ने किया है।

अंततः में हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य ने न केवल साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है अपितु साहित्य की दुनिया को व्यक्ति, समाज, धर्म, राष्ट्र आदि को देखने और समझने की एक नयी दृष्टि दी है। दलित आत्मकथा लेखन ने साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध कर उसे एक नया आयाम दिया है।

दलित साहित्य में आत्मकथाएं ही सर्वाधिक चर्चित हैं। दरअसल, दलित आत्मकथाओं की यह विशेषता है कि एक आत्मकथा मात्र उसके लेखक की, एक दलित व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होती, अपितु कहीं न कहीं वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है। क्योंकि भले ही दलित आत्मकथा में आत्मथाकार द्वारा भोगी हुई यातना, अभाव, अपमान और संघर्ष का चित्रण होता है किन्तु दलित समाज के समस्त लोग किसी न किसी स्तर पर कम या ज्यादा जातीय अपमान, घृणा, उपेक्षा और वंचना के शिकार होते हैं। इसलिए दलित आत्मकथाकार के जीवन का यथार्थ समस्त दलित समाज का सच होता है। आत्मकथा का आधार यथार्थ होता है और दलित आत्मकथाओं में समाज द्वारा दलितों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय-अत्याचार, असमानता, जातिगत भेदभाव, शोषण और अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। अधिकांश दलित आत्मकथाओं में यह सब चित्रित है, इसलिए साहित्य के साथ-साथ ये आत्मकथाएं भारतीय समाज का इतिहास भी है। दलित आत्मकथाओं में दर्ज इतिहास भारतीय समाज की उस अमानवीयता और असहिष्णुता का इतिहास है, जिसका उल्लेख इतिहास के ग्रंथों में नहीं है। इस दृष्टिकोण से देखें तो दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में मानवीय चेतना और क्रांति का सूत्रपात किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ सूची (हिंदी)

1. अपने-अपने पिंजरे- मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,सं.1995
2. जूठन- ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1997
3. झोंपड़ी से राजभवन तक- माता प्रसाद, नमन प्रकाशन, दिल्ली, सं.2002
4. तिरस्कृत- सूरजपाल चौहान, अनुभव प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.2000
5. दोहरा अभिशाप- कौशल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, सं.2009
6. मुर्दहिया (सं.2010) एवं मणिकर्णिका (सं.2014)- डॉ. तुलसीराम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
7. मेरा बचपन मेरे कंधो पर- श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009
8. शिकंजे का दर्द-सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011

आधार ग्रंथ सूची (मराठी)

1. अक्करमाशी- शरण कुमार निम्बाले, श्री विद्या प्रकाशन, पुणे, सं. 1987
2. अछूत- दया पवार, ग्रंथाली प्रकाशन, मुंबई, पुनर्मुद्रण-2010

3. आयदान- उर्मिला पवार, ग्रंथाली प्रकाशन, मुंबई, सं.2011
4. उठाईगीर-लक्ष्मण गायकवाड, श्री विद्या प्रकाशन, पुणे, सं. ग्यारह-2011
5. उपरा- लक्ष्मण माने, ग्रंथाली प्रकाशन, मुंबई, सं. 2010
6. छोरा कोल्हाटी का- किशोर शांताबाई काले, ग्रंथाली प्रकाशन, मुंबई, सं. 1994
7. जीवन हमारा- बेबी काम्बले, रचना कुलकर्णी प्रकाशन, पुणे सं.2000
8. यादों के पंछी- प्र.ई. सोनकाम्बले, चेतना प्रकाशन, औरंगाबाद, सं. 1989

<u>संदर्भ एवं सहायक ग्रंथ सूची (हिंदी)</u>

1. अम्बेडकरवादी कहानी : रचना और दृष्टि- डॉ. तेज सिंह, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-2012
2. अम्बेडकरवादी विचारधारा, इतिहास और दर्शन- विश्वेश्वर प्रसाद, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम प्रकाशन-2010
3. अम्बेडकरवादी साहित्य की अवधारणा- डॉ. तेज सिंह, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण-2012
4. अम्बेडकरी चिंतन और दलित साहित्य- पी. एन. सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकुला, प्रथम संस्करण-2009
5. आज़ाद भारत में दलित- रूपचंद गौतम, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.2010
6. आदमी से आदमी तक-रमणिका गुप्ता, संपादन-बलदेव पाण्डेय, शुभम प्रकाशन, नई दिल्ली-32, प्रथम संस्करण-1997

7. आधुनिक भारत में जाति- एम.एन.श्रीवास्तव, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2012
8. उत्तर आधुनिकता और दलित साहित्य- कृष्णदत्त पालीवाल, किताब घर प्रकाशन, नई. दिल्ली, संस्करण 2007
9. ऋग्वेद, हड़प्पा और सांस्कृतिक निरंतरता- कृपा शंकर सिंह, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2010
10. जाति और मार्क्सवादी दृष्टिकोण- रंगनायकम्मा, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, प्र. सं. 2013
11. जाति कौन तोड़ेगा- राजकिशोर, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, आवृत्ति- 2005
12. जाति व्यवस्था- सच्चिदानंद सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-2009
13. डॉ. अम्बेडकर : समाज व्यवस्था और दलित साहित्य- कृष्णदत्त पालीवाल, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
14. दलित एवं हिन्दू धर्म का ऐतिहासिक मर्म-विश्वेश्वर प्रसाद, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010
15. दलित दस्तावेज- एम.आर. विद्रोही, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली, दू.आ. 2011
16. दलित दृष्टि- गेल ओमवेट, (अनु. रमणिका गुप्ता एवं अकिल कैस), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

17. दलित पैंथर आन्दोलन- (संपादक) एस.एस.गौतम,(अनु. अजय कुमार), गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, पहला संस्करण-2008

18. दलित ब्राह्मण- शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सं. 2008

19. दलित विमर्श- उमा शंकर चौधरी, आधार प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

20. दलित वैचारिकी की दिशाएँ- (संपादक) बद्री नारायण, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2008

21. दलित समाज : पुराणी समस्याएँ नयी आकांक्षाएं- डॉ. विवेक कुमार, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007

22. दलित समाज और संस्कृति- तेज सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकुला, संस्करण-2011

23. दलित साहित्य का समाजशास्त्र-हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-2010.

24. नंदों और सेनों की उत्पत्ति और इतिहास- डॉ. नवल वियोगी, आ. शुभनारायण यथार्थी, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012

25. परंपरा और परिवर्तन- श्यामाचरण दुबे, भारतीय ज्ञानपीठ, तृतीय सं. 2008

26. परंपरा का मूल्यांकन-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2011

27. पूर्वकालीन भारत-रोमिला थापर, (अनु. आदित्यनारायण सिंह), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पुनर्मुद्रण- 2009

28. प्राचीन भारत के शासक नाग उनकी उत्पत्ति, और इतिहास- डॉ. नवल वियोगी, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2011

29. प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास (मराठी और दखनी के सन्दर्भ में), डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, लातूर जिला हिंदी साहित्य परिषद, लातूर, प्रथम संस्करण-2004

30. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय (01 से 21 भाग तक), संपादन एवं प्रकाशन- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण- 2013

31. बौद्ध धर्म- राहुल सांकृत्यायण, किताब महल, इलाहाबाद, प्रस्तुत संस्करण-2012

32. भारत का इतिहास- रोमिला थापर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1975

33. भारतीय ग्राम- श्यामाचरण दुबे, (अनु. योगेश अटल), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण-2000

34. भारतीय समाज एवं दलित राजनीति- चन्द्रभान प्रसाद, गौतम बुक सेंटर, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2007

35. भारतीय समाज विन्यास(The Indian scheme of life)- डॉ. राधाकमल मुखर्जी (हिंदी साप्ताहिक 'पांचजन्य', लखनऊ के संपादक- मंडल द्वारा अनूदित), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, कापीराइट-1957

36. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010

37. मेरी कथा (दलित यातना, संघर्ष और भविष्य)- मार्टिन मेकवान (अनु. रामनरेश सोनी), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण- 2008

38. मैं भी मुंह में जबान रखता हूँ- मैनेजर पाण्डेय, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

39. वर्ण-जाति व्यवस्था (उद्भव, प्रकार्य और रूपान्तरण)- सुवीरा जायसवाल (अनु. आदित्यनारायण सिंह), ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, पहला संस्करण- 2004

40. विमर्श में कबीर- उमा शंकर चौधरी, आधार प्रकाशन, पंचकुला, प्र. सं. 2011

41. शूद्रों का प्राचीन इतिहास- रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवीं आवृत्ति-2009

42. संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण-2012

43. समाज दर्शन- डॉ.सत्यपाल गौतम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, तृतीय संस्करण- 2006

44. समाजवादी अम्बेडकर- कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009

45. समाजवादी चिन्तन- डॉ. आशा गुप्ता, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, प्रथम संस्करण-1987

46. समाजशास्त्र : एक परिचय- बी.के. नागला, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, तृतीय संस्करण- 2006

47. समाजशास्त्र अवधारणा एवं सिद्धांत- जे. पी. सिंह प्रेन्टिस हाल ऑफ़ इंडिया प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2003

48. सामाजिक न्याय के लिए सामाजिक शिक्षा- एड. राम खोब्रागडे (अनु. आर. के. रेवडिया), सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2004

49. साहित्य का समाजशास्त्र- बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2011

50. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन- (संपादक)निर्मला जैन, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1986

51. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका- मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, तृतीय संस्करण- 2006

52. सिन्धु घाटी सभ्यता कके सृजनकर्ता शूद्र और वनिक- डॉ. नवल वियोगी, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पंचम संस्करण- 2011

53. स्वामी अछूतानन्दजी 'हरिहर' संचयिता- (संपादक) कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

54. हरिजन से दलित- (संपादक) राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008

55. हाशिये का वृतांत- (संपादक) दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, आधार प्रकाशन, पंचकुला, प्रथम संस्करण-2011

56. हाशिये की वैचारिकी- (संपादक) उमा शंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008

57. हिंदी और मराठी दलित साहित्य : एक तुलनात्मक अध्ययन- डॉ. सुरेश मारुतिराव मुले, नवभारत प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2007

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अपेक्षा- सं. तेजसिंह, नई दिल्ली

2. दलित अस्मिता (त्रैमासिक)- सं. विमल थोरात, नई दिल्ली

3. दलित दस्तक- सं. अशोक कुमार, नई दिल्ली

4. बयान(मासिक)- सं. मोहनदास नैमिशराय, नई दिल्ली

5. युद्धरत आम आदमी- सं. रमणिका गुप्ता, नई दिल्ली

6. वर्तमान साहित्य- सं. नमिता सिंह, अलीगड

7. हंस- सं. संजय सहाय, नई दिल्ली

<u>सहायक ग्रंथ सूची (मराठी)</u>

1. 'आयदान' : सांस्कृतिक ठेवा- (संपादक) डॉ.सिसिलिया काव्र्हालो, सतीश कळसेकर, लोकवांडमय गृह, मुंबई, पहली आवृत्ति-2007
2. आस्तिक शिरोमणि : चार्वाक- डॉ. आ. ह. सालुंखे, राकेश आन्नासाहेब सालुंखे प्रकाशन, लोकायत,13 यशवंत नगर, गेंडामाल, सातारा, पुनर्मुद्रण-2010
3. दलित आत्मकथा : एक आकलन- डॉ. शरणकुमार लिम्बाले, दिलिपराज प्रकाशन, प्रा.लि., पुणे, प्रथम आवृत्ति-2008
4. दलित कविता व दलित साहित्याचे सौंदर्यशास्त्र- म. सु. पाटिल, पद्मगन्धा प्रकाशन, पुणे, प्रथम आवृत्ति-2010
5. दलित कवितेतील अस्मिता- डॉ. बीरा पारसे, स्वरूप प्रकाशन, औरंगाबाद, प्र.आ.2008
6. दलित साहित्य : उगम आणि विकास- डॉ. अविनाश सांगोलेकर, प्रतिमा प्रकाशन, पुणे, प्रथम आवृत्ति- 2010
7. देवालाचा धर्म आणि धर्माची देवले- प्रबोधनकार ठाकरे, लोकायत प्रकाशन, पुणे, संस्करण- 2010

8. भारत पुन्हा एकदा गुलामीकडे- संपादन एवं प्रकाशन-लोकायत, पुणे, सं. 2010
9. मराठी कादंबरी : समीक्षा- प्रा. तानाजी राऊ पाटिल, डायमंड पब्लिकेशन्स, पुणे, प्रथम आवृत्ति- 2009
10. मराठीतील आत्मचरित्रपर लेखन- उषा हस्तक, स्नेहवर्धन प्रकाशन, सदाशिव पेठ, पुणे सं.2006
11. साहित्याची निर्मिति प्रक्रिया- आनंद यादव, मेहता पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, प्रथम आवृत्ति- 2001
12. साहित्याचे निकष बदलावे लागतील- डॉ. शरण कुमार लिम्बाले, दिलिपराज प्रकाशन प्रा. लि., मुंबई,द्वितीय आवृत्ति-2007

सहायक ग्रंथ सूची(अंग्रेजी)

1. Indian Society- S. C. Dube, National Book Trust, New Delhi, 1994

परिशिष्ट-

ISBN No. 978-1-62951-325-6

अंबाजोगाई

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये

केल्याने होत आहे रे । आधि केलेचि पाहिजे ।।

भारतीय शिक्षण प्रसारक संस्था अंबाजोगाई संचलित,

ी सिध्देश्वर महाविद्यालय,माजलगांव

ता.माजलगांव ४ ३ १ १ ३ १ जि.बीड (महाराष्ट्र)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग,नई दिल्ली एवं

श्री सिध्देश्वर महाविद्यालय,माजलगांव

के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित

द्वि - दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

"स्त्री-लेखन : सृजन के विविध आयाम"

दि.३० सितम्बर तथा ०१ अक्तुबर २०१३

"स्त्री-लेखन विशेषांक"

-: अनुक्रमणिका :-

अ.क्र.	आलेख शीर्षक	लेखक	पृष्ठ संख्या
१	हिंदी की महिला आत्मकथाओं में नारी संघर्ष	प्रा.डॉ.शकुंतला चव्हाण	०१
२	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	डॉ.जोगेंद्रसिंह बिसेन	०३
३	हिंदी लघुकथाओं में स्त्री लेखन	प्रा.डॉ.कलशेट्टी एम.के.	०६
४	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	प्रा.वैशाली चंद्रकांत वडवळेकर	०८
५	स्त्री संघर्ष की महागाथा : आँखो की दहलीज	प्रा.डॉ.शेख मुखत्यार शेख वहाब	१०
६	कठगुलाब में नारी शोषण और संघर्ष	प्रा.डॉ.बी.एस.भुक्तरे	१३
७	मालती जोशी के कथा साहित्य में स्त्री-विमर्श	डॉ.भास्कर उमराव भवर	१६
८	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	डॉ.सौ.काटे हेमलता विजय	२०
९	चंद्रकांता के साहित्य में चित्रित मध्य वर्ण	डॉ.जायदा सिकंदर शेख	२३
१०	मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री विमर्श	प्रा.डॉ.साधना चंद्रकांत भंडारी	२६
११	इक्कीसवी सदी की हिंदी कविता में स्त्री लेखन	डॉ.अशोक मराळे	३०
१२	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	डॉ.श्रीमती सुरेखा बा.शहापुरे	३३
१३	स्त्री अधिकार एवं स्वतंत्रता की पैरवी	डॉ.विजय शिंदे	३७
१४	स्त्री के प्रति बुर्जवा विचारों का विरोध करता नाटक:जी,जैसी आपकी मर्जी . .	डॉ.बळीराम धापसे	४३
१५	रजनी तिलक के काव्य में व्यक्त दलित स्त्री जीवन	प्रा.डॉ.सुभाष नागोराव क्षीरसागर	४५
१६	दीप्ति खंडेलवाल की कहानियों में व्यक्त असंतुष्ट दाम्पत्य-संबंध	प्रा.डॉ.राजश्री भामरे	४८
१७	प्रवासी हिंदी साहित्य और नारी चरित्र	डॉ.रंजना युदनंदन चावडा	५३
१८	मंजुल भगत की कहानियों में चित्रित नारी विमर्श	प्रा.डॉ.शे.रज़िया शहेनाज़ शे.अब्दुला	५६
१९	नारी विमर्श : सृजन के विविध संदर्भ	डॉ.भाउसाहेब नवनाथ नवले	५९
२०	२१ वी शती के हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन के विविध आयाम	डॉ.बी.आर.नळे	६३
२१	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	डॉ.भिमराव भाउराव मानकरे	६५
२२	हिंदी उपन्यास साहित्य में स्त्री लेखन	प्रा.डॉ.अनिता वेताळ अंत्रे	६९
२३	हिंदी साहित्य में नारी विमर्श	प्रा.डॉ.वायजा महादेव कोटुळे	७१
२४	नारी आत्मकथा दलित संवेदना : दोहरा अभिशाप	प्रा.सुषमा प्रफुल्ल नामे	७४
२५	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	डॉ.कुलकर्णी वनिता बाबुराव	७७
२६	नारी शोषण का यथार्थ चित्रण	डॉ.बेवले ए.जे.	८०
२७	हिंदी उपन्यास साहित्य में स्त्री लेखन पचपन खंम्भे लाल दिवारे की सुषमा	डॉ.ओमप्रकाश बन्सीलाल झंवर	८२
२८	मंजुल भगत की कहानियों में नारी चित्रण	प्रा.छाया तोटवाड	८५
२९	हिंदी का स्त्री नाट्य लेखन : स्त्री विशेष के संदर्भ में	डॉ.सौदागर साळुंखे	८८
३०	अल्मा कबुतरी के उपन्यास में आदिवासी स्त्री चेतना	प्रा.डॉ.सांगोळे शिवाजी	९२
३१	हिंदी कथा साहत्यि में स्त्री लेखन	डॉ.हेमलता कांचनकर	९४
३२	उपन्यासकार मन्नू भंडारी	डॉ.शेषराव लिंबाजी राठोड	९६

अ.क्र.	आलेख शीर्षक	लेखक	पृष्ठ संख्या
१०१	उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में व्यक्त नारी : सहेली रूप	प्रा.बिरादार श्रीदेवी बाबुराव	२७९
१०२	कृष्णा सोबती की ग्रामिण कहानियों में चित्रित नारी	प्रा.शेख मुशताक अली शे.गुलाम रसुल	२८१
१०३	ममता कालिया के दौड उपन्यास में चित्रित नारी जीवन	प्रा.डॉ.सविता लालासो नाईक निंबाळकर	२८३
१०४	एक अमिट हस्ताक्षर, मन्नू भंडारी	प्रा.डॉ.विठ्ठल तुळशीरामजी वजीर	२८५
१०५	तत्सम में नारी शोषण और संघर्ष	प्रा.मंगरूळे इसाबेग घुडूसाब	२८८
१०६	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	प्रा.कैलास माने प्रा.डॉ.दत्तात्रय अनारसे	२९१
१०७	साठोत्तरी हिन्दी कहानी में महिला लेखिकाएँ द्वारा वर्णित माँ की त्रासदी	प्रा.डॉ.रामकृष्ण बदने	२९४
१०८	हिन्दी उपन्यासों में नारी चेतना	प्रा.डॉ.रेखा शर्मा	२९६
१०९	हिन्दी साहित्य में स्त्री चित्रण के रूप	प्रा.यु.बी.देशमुख	२९९
११०	ग्रेस कुजूर एवं निर्मला पुतुल की कविताओं में व्यक्त आदिवासी स्त्री की व्यथा - कथा	तोंडाकुर लक्ष्मण पोतन्ना	३०१
१११	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	शेख मोहसीन इब्राहीम	३०४
११२	हिंदी गद्य की अन्य विधाओं में स्त्री- लेखन पिंजर उपन्यास की अस्थिपंजर नारी	श्री पाटील नवनाथ सदू	३०७
११३	हिंदी बाल साहित्य विधा में स्त्री लेखन	सुश्री.छाया शंकर माळी	३०९
११४	दोहरा अभिशाप आत्मकथा में दलित नारी जीवन	मुरदारे सविता रावसाहेब	३१२
११५	हिंदी कहानी साहित्य नारी सृजन के विविध आयाम	डॉ.दिपक तुपे	३१४
११६	सठोत्तरी महिला लेखिका के उपन्यासों में स्त्री विमर्श	डॉ.विनायक शिंदे/अनंत वडघने	३१७
११७	उषा प्रियम्वदा के उपन्यासों में माँ रूप	पाटील श्रध्दा अशोकराव	३१९
११८	ठीकरे की मंगनी उपन्यास में नारी चेतना	साळुंके एस.बी.	३२४
११९	ममता कालिया के कहानी साहित्य में नारी चेतना	लिपारे अजित विठ्ठल	३२७
१२०	डॉ.सुशिला टाकभौरे की कहानीयोंका अनुशिलन	संतोष वसंत कोळेकर	३२९
१२१	स्त्रीवाद,स्त्रीविमर्श सिध्दांत एवं व्यवहार	कोळगिरे शंकर दत्तात्रय	३३२
१२२	एक कहानी यह भी : एक अनुशीलन	खिल्लारे दिपक नामदेव	३३५
१२३	मृदुला गर्ग के उपन्यासों में स्त्री के विविध आयाम	जाधव अविनाश सुगंधराव	३३७
१२४	कोई बात नही उपन्यास में नारी चेतना	पवार अंकुश बाबुराव	३३९
१२५	तिरोहीत उपन्यास की नारी पात्र ललना	खाडे व्ही.बी.	३४१
१२६	हिंदी कविता में स्त्री लेखन	धायगुडे हनुमंत विठ्ठलराव	३४३
१२७	स्त्री विमर्श की अवधारणा और हिंदी साहित्य	चोरघडे सुर्यकांत मुकुंदराव	३४६
१२८	मालती जोशी की कहानीयों में नारी जीवन	शाम रामराव पवार	३५०
१२९	समकालीन कथा साहित्य में दाम्पत्य जीवन की समस्या	शेख खलील इमामसाब	३५२
१३०	शोषन से मुक्ति का प्रयास : छिन्नमस्ता	तावरे राजश्री	३५४
१३१	साहित्य में स्त्री लेखन	प्रा.किर्ती सर्जेराव काळे	३५७
१३२	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	शिवाजी गंगाधर सुरवसे	३६०
१३३	हिंदी कथा साहित्य में स्त्री लेखन	नितीन रंगनाथ गायकवाड	३६३
१३४	शिकंजे का दर्द और आयदान में अभिव्यक्त.....	चिलवंत प्रकाश गोरोबा	३६५
१३५	हिंदी आत्मकथा विकास में महिला लेखिकाओं का योगदान	प्रा.जाधव राजाराम बाबासाहेब	३६७

ISBN No. 978-1-62951-325-6

१३३ 'शिकंजे का दर्द' और 'आयदान' में अभिव्यक्त दलित स्त्री जीवन

चिलवंत प्रकाश गोरोबा
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय,हैदराबाद.
०७३८२५४८४९२
Email-prakash.chilwant@gmai.com

जब हम दलित सहित्य आंदोलन की बात करते हैं तब जरूरी हो गया है कि भारतीय समाज व्यवस्था की सबसे आखिरी पायदान पर खड़ी दलित स्त्री के रचानात्मक योगदान को रेखांकित किया जाए. दलित स्त्री लेखन प्रमुखता से मनु द्वारा निर्धारित नैतिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध कर रहा है. सुशिला टाकभौरे अपनी आत्मकथा शिकंजे का दर्द के मनोगत में कहती है- एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूषसत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है.[१] वह आगे कहती है- आदर्शों के नाम पर स्त्री शोषण किया जाता है. अपने घर-परिवार के शोषण, अत्याचार की बात बताने वाली स्त्री को अच्छा नहीं कहता. अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों को भी समाज अच्छा नहीं मानता.[२] दलित स्त्री वर्ग के भीतर की पितृसत्ता के खिलाफ निडर होकर बात कर रही है. इस संदर्भ में विमल थोरात कहती है- दलित स्त्री अब दलित वर्ग के भीतर की पितृसत्ता के खिलाफ भी गोलबंद हो रही है. उसके अस्मिता का संघर्ष दोहरा, तिहरा है और मुक्ति की तलाश अधिक जटिल है. डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की वैचारिकी को केंद्र में रखकर उसकी रचनात्मक पहल से निर्मित सोच ऐसे दिगंत की चाहना रखती है, जो असीम और पूरी तरह से खुला हो. गोतम बुध्द, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी से प्रेरित दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर समतामूलक समाज रचना के लिए प्रतिबद्ध है.[३]

आत्मकथाओं की परंपरा मराठी में बहुत पहले से चली आ रही है. विशेषकर महिला दलित आत्मकथाओं ने मराठी साहित्य को बहुत संपत्र बनाया. इसलिए दलित लेखिकाओं ने स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथा को माध्यम बनाया. दलितों की आत्मकथाओं में गरीबी और जातिदंश एक केंद्रीय विषय है तो स्त्रियों की आत्मकथाओं में इनसे कुछ आगे के विषय हैं. खास तौर से स्त्री होने के कारण झेली गई तखलिफें इन आत्मकथाओं का एक बड़ा आयाम है. मराठी स्त्री आत्मकथाओं में प्रा. सौ. कुसुम पावडे की अंत:स्फोट, मुक्ता सर्वगोड की मिटलेली कवाडे, बेबी कांबले की जीणं आमचं, शांताबाई कृष्णाजी कांबले की माझ्या जन्माची चित्तर कथा, जनाबाई कचरू गिन्हे की मरणकळा, और उर्मिला पवार की आयदान विशेष उल्लेखनीय हैं.

हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन की शुरूआत मराठी प्रभाव से ही लेकिन हिंदी में दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं की परंपरा क्षीण रही. सन् १९९९ में परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली से कौशल्या नंदेश्वर बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप के नाम से प्रस्तुत की थी, उसके ठीक बारा साल बाद सन् २०११ में वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित शिकंजे का दर्द नाम से सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा प्रस्तुत की है.

उर्मिला पवार की आत्मकथा आयदान और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा शिकंजे का दर्द एक ही दशक में लिखी गई है. एक ही दशक में लिखी होने के कारण और भिन्न-भिन्न प्रादेशिकता के कारण इन दोनों क्षेत्रों में लिखी गई आत्मकथाओं में चित्रित स्त्री जीवन को दिखाना मेरा मुख्य उद्देश्य है. आयदान में कोंकण के रत्नागिरी और फणसावली (लेखिका का गांव) की भाषा, संस्कृति एवं जीवन ही मुख्य रूप से सामने आता है. आगे फिर मुंबई और वहां की झोपड़पट्टी का वर्णन आता है. जिसमें उर्मिला का संघर्षमय जीवन व्यतित हुआ है. वही शिकंजे का दर्द में मध्यप्रदेश के बानापुर जन्मी सुशीला का बचपन, गरीबी, सामाजिक उपेक्षा और शिक्षा प्राप्ति के लिए संघर्ष में बिता.

आयदान आत्मकथा के शीर्षक के संबंध में उर्मिला पवार लिखती है- आयदान .... प्लॅस्टिक युग आने से पहले हमारे संसार में बाम्बू से तैयार किए हुए डलिया, खंचिया, छोटा टोकरा, डाला, खांचा इत्यादि वस्तुओं का महत्व था. इन वस्तुओं सामान्य रूप आयदान है.[४] वहीं शिकंजे का दर्द के संदर्भ में सुशीला टाकभौरे लिखती है- शिकंजा यानी पंजा, जिसकी जकड़न में रहकर कुछ कर पाना कठिन हो. शिकंजा यानी कठघरा जिसमें कैद होकर उसके बाहर जाना कठिन है.[५]

शिकंजे का दर्द में सुशीला टाकभौरे लिखती है - कक्षा में ब्राह्मण, बनियों के बच्चों को सबसे आगे बैठाया जाता था. पिछड़ी जाति के बच्चों को पीछे बैठाया जाता था. अछूत बच्चे सबसे पीछे बैठते थे. कक्षा में यह श्रेणी वर्गीकरण जैसा था, इससे हमें अपने वर्ण और जाति का आभास हमेशा रहता था.[६] वहीं उर्मिला पवार को आयदान में हेरलेकर गुरूजी कहते है- ब्लेक बोर्ड पोंछ दो, कोने में पड़ा कचरा बाहर फेंक दो.[७] सुशीला टाकभौरे को स्कूल में सबसे पीछे अपने अछूत होने के कारण बैठना पड़ता था. उर्मिला पवार ने इसका उल्लेख नहीं किया लेकिन उनको भी अपनी अछूत जाति के कारण स्कूल में कचरा उठाना, गोबर उठाना, ब्लेक बोर्ड साफ करना आदि काम करने पड़ते थे. दलित श्रम करने में कभी पीछे नहीं हटे लेकिन उनको वही काम दिया गया जिसको करने में तथाकथित उच्च वर्णियों को घृणा होती थी. इसी घृणा ने दलितों को अस्पृश्य बनाया है. दरअसल, स्कूली

Chilwant

जा... से ही दलित बच्चों को अस्पृश्यता का अनुभव मिलना शुरू हो जाता है. सुशीला टाकभौरे और उर्मिला पवार दोनों को स्कूल में ही यह अहसास कराया गया की तुम दलित हो. वहीं पर सवर्ण बच्चों को भी यही शिक्षा मिलती है कि दलित कौन है? और उनके साथ किस तरह से व्यवहार किया जाना चाहिए? इसीलिए बचपन से ही सवर्ण बच्चों की मानसिकता में यह घर करके बैठता है कि हम शोषक है और तुम शोषित हो. इन मानसिकताओं को स्कूल में ही दूर किया जाना चाहिए.

स्त्री चाहे किसी भी क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बना चुकी हो, उसकी अपनी पहचान से परे वह केवल एक स्त्री है और दलित स्त्री के आगे तो दलित विशेषण भी जुडा हुआ है. इसीलिए दलित से संबंधित सभी सामाजिक वर्जनाएं झेलना भी दलित स्त्री की नियति बन जाती है. स्कूल में अध्यापकों, कमचारियों एवं सहपाठियों से उपेक्षा ही मिलती है, सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी. मैं नहाकर साफ-सुथरे कपड़े पहनकर स्कूल जाती थी, फिर भी स्कूल के बच्चों, अध्यापकों और चपरासी के लिए अछूत ही थी, मैं देखती थी, सवर्ण घरों के स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिडक दिया जाता था.[६] संवैधानिक प्रावधानों के कारण अछूतों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार तो मिल गया लेकिन वर्ग व्यवस्था के अलग-अलग पायदानों पर प्रतिष्ठत लोगों द्वारा दलितों को निरंतर उनके यथार्थ और हैसियत का अहसास कराया जाता है. सुशीला टाकभौरे नहा-धोकर साफ कपडे पहनकर स्कूल जाती थी लेकिन उर्मिला पवार दो-दो, तीन-तीन दिन नहीं नहाती थी. इससे एक बात साफ हो जाती है कि आप कितने भी नहा-धोकर साफ-सुथरे कपडे पहनकर स्कूल में जाईए, आप अछूत के अछूत ही रहेंगे. उससे बाहर निकलने नहीं दिया जाएगा. अगर आप ने उससे बाहर निकलने की कोशिश की तो बहुत भारी कीमत चुकानी पडेगी.

इस जातीय उत्पीड़न के साथ दलित स्त्री का दूसरा शोषण पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा किया जाता है. एक सामान्य दलित स्त्री का जीवन बचपन से ही यातनामय होता है. बचपन से ही उस पर कई बंदिशे और बोझ दिए जाते हैं जैसे घर के कामों में हाथ बंटाना, छोटे भाई-बहनों को संभालना आदि. दलित स्त्रियों के मार्ग में एक बाधा है, वह सामाजिक मानसिकता जो स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारती है और विवाह को जीवन का लक्ष्य तथा ससुराल को उसका वास्तविक घर घोषित करती है. उनके व्यक्तित्व घडन भी ऐसा ही किया जाता है. उर्मिला पवार ने शादी से पहले और बाद में भी बहुत सारी नौकरियाँ की है, जिनमें एसटी ऑफिस, ग्लॅक्सो लॅबोरेटरी, सिविल कोर्ट आदि ऑफिस शामिल हैं. लेकिन जब वेतन होता है तब सारा पैसा पति के हाथ में जाता है. उसका वर्णन उर्मिला पवार इस तरह करती है- एक तारीख को जब वेतन होता था तब यह विश्वास ही नहीं होता था कि यह पैसा मेरा है और मैं जैसे चाहूं इसे खर्च कर सकती हूँ. पहले नौकरी का पैसा माँ के हाथ में देती थी. शायद उसी आदत के कारण अब पति के हाथ में देती हूँ. आगे वही रिवाज़ शुरू रहा.[९] वही सुशीला टाकभौरे लिखती है- उन्होंने यह नीति अपना ली थी- अपने वेतन का हिसाब कभी नहीं बताते थे, मेरा वेतन पूरा ले लेते थे, मुझे पता ही नहीं चलता, कहां क्या खर्च हो रहा है. वे चाहते थे, मैं अपना वेतन हमेशा उन्हें देती रहूँ कभी कोई हिसाब न मांगू, ऐसा न होने पर मैं घर में हिंसा का शिकार बनती. छोटी सी बात होते ही छड़ी उठा लेते, वे छड़ी हमेशा छूपा के रखते थे.[१०]

आर्थिक शोषण, घरेलू मानसिक हिंसा की शिकार उर्मिला पवार एवं सुशीला टाकभौरे अपने बच्चों की खातिर पति से अलग होने का निर्णय नहीं ले पाती और परिस्थितियों के आगे विवश होकर स्वयं को ही उस वातावरण में ढाल लेती है. उर्मिला पवार का पति हरिश्चंद्र और सुशीला का पति सुंदरलाल दोनों में अपनी पत्नियों को पढ़ाया-लिखाया लेकिन जब वेतन का दिन आता है तब दोनों ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था के शिकार दिखाई देते हैं. ऐसे में इन दोनों लेखिकाओं ने इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध किया है. और अपने स्वावलंबन के रास्ते पर आगे बढ़ती रही है. यह निश्चित रूप से दलित स्त्रियों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा. अंततः हम कह सकते हैं कि इन दोनों आत्मकथाओं के माध्यम से दलित साहित्य में दलित स्त्री की सक्रिय उपस्थिति और अभिव्यक्ति संपूर्ण दलित समाज की स्त्रियों के अस्तित्व को जानने- समझने मे सहायक सिद्ध होगी. निश्चित ही उनको भावनाओं और विचारों को सुनने-गुनने और समझने की जरूरत है.

संदर्भ :

१) शिकंजे का दर्द - सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.५ २) वही
३) दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर - विमल थोरात, अनामिका पब्लिशर्सस् अँड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि. पृ.सं.१०
४) आयदान - उर्मिला पवार, ग्रंथाली प्रकाशन, पुणे, मनोगत
५) शिकंजे का दर्द - सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.५
६) वही, पृ.सं.१८
७) आयदान - उर्मिला पवार, ग्रंथाली प्रकाशन, पुणे, पृ.सं.५४
८) शिकंजे का दर्द - सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.१८,१९
९) आयदान - उर्मिला पवार, ग्रंथाली प्रकाशन, पुणे, पृ.सं.१७६
१०) शिकंजे का दर्द - सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.१९६

अनुसृजन

(अनुवाद अध्ययन विभाग की त्रैमासिक द्विभाषी ई-पत्रिका)

अनुवाद अध्ययन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

अनुसृजन

अनुवाद अध्ययन विभाग की त्रैमासिक द्विभाषी ई-पत्रिका

अंक – 4 : जनवरी-मार्च, 2016

संरक्षक

प्रो. गिरीश्वर मिश्र,š--a•q-a

-Ạ-pfạ-ạtṬ

प्रो. देवराज

परामर्शदाता

डॉ. अनवर अहमद सिद्दीकी

संपादक

डॉ. हरप्रीत कौर

सह-संपादक

डॉ. मिलिंद पाटिल

सुधीर जिंदे

रेखांकन

राजेश आगरकर

Social Exclusion of *Dalit* Women in 21st Century: Strategies for Inclusion

Sandip T. Kamble[1] Chilwant Prakash Goroba[2]

तकनीकी सहयोग

अमित घोड़े

मुखपृष्ठ

मेघा आचार्य

प्रकाशक : अनुवाद अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

- प्रकाशित सामग्री से संपादक मण्डल/प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं।
- न्याय क्षेत्र : वर्धा

E-Mail — aanusrujan@gmail.com

Abstract

When we talk over the social exclusion of dalit women in 21 st century then first of all we have to search out the root reasons of it. And the root reasons of social exclusion of dalit women are laid in Hindu religious literatures and traditions. Such as the Hindu religious book Manusmruti said that the all women including Shudras women and Dalit women were shudras. They are not beliable, men should not believe in them, women should be under the hand of men, and men should keep them like sleepers in feet. And so," Dr.Babasaheb Ambedkar said Manu was responsible for the degradation of women in India. Manu forged chain 'to bind and suppress women. Manu's aim was to eliminate the freedom women enjoyed during Buddhist period. 'Again Indian great poet Tulsidas said in Ramcharit Manas " dhol, gawar, shudra, pashu, nari sab hai tadan ke adhikari,[means these all should be beaten like dhol.] is said in Brahmvairat Puran that a woman who makes difference between God and her husband that woman do sin like killing cow. Again it is said in Bhagwat Puran that a selfish woman can kill her husband, son and brother too. It is said in Jaimini Brahman that a woman is a reason of sorrow. Like this there are several Hindu literatures Ramayana, Mahabharat, Puran, Ramcharit Manas etc, which degraded women and wrote that women are not faithful and they sh6uld be kept like slave. And so on this Dr.Ambedkar said that let every girl who marries stand by her husband' friend and equal, refuse to be his slave. Women are forbidden from, education, equality, social status, public service in Hindu traditions too. Buddha was the first person who gave equal status to women by accepting them in his Sangha, and by giving teaching to society of equality, fraternity, justice and liberty. Later Dr. Ambedkar accepted these principles in Indian Constitution. Like this through the Indian history we come to know that our great person like Mahatma Gandhi, Dr.Ambedkar, Mahatma Jotiba fooley, Savitri bai Fooley,Raja Rammohan Rai etc, fought for the equality, justice, and liberty of Dalit women , and it is our all Indians duty to continue it by spreading our great persons equality thoughts.

Keywords :

Dalit women, exclusion, religious litertures, traditions, customs, rites and rituals, degradation, salve, injustice, strategies, equality, liberty, fraternity, justice, inclusion.

INTRODUCTION :

Whilevaitting down about the vedic induc and sindhu induc Dr. Pradip Aglawe in his book changes after dhamma chakra pavartan [turning of the wheel] that Aryans are not inhabitant of this country they had

attacked over sindhu induc, robbed cities, and put on fire it. Like this comming from out side Aryan destroyed sindhu indue. [1] While comming from outside they did not bring women with them, and attacker people never keep women with them also. Now Aryan people came from out side and

settled down here, and so, of ourse, they haven't any simpathy with women here of course, they came in tough with women here, they kept women as wives, but they had not any simpathy with women. And so, when we will go through the Hindu religious literatures, we will come to know that women are not given freedom. Women are made slave, they are forbidden from equality, liberety, and justice. Women are kept in different traditions, customs, rites and rituals through different Hindu religious books. While speaking about Hindu religious social customs, tradition, rites and rituals Sir T, Madhava Raw says "The longer one lives, observes, and thinks, the more deeply does he feel that there is no community on the face of the earth which suffers less from political evil and more from self - inflicted or self accepted or self - created, and there fore avoidable evils, than the Hindu community."

Whatever the evil religious traditions were in Hindu religious literatures against dalit women and against all other women those injustice hindu religious traditions were forbidding Dalit women and other women from making progress and living happy life. In Indian history Buddha first time opposed and challenged those all evil customs, traditions, rites and rituals. Buddha permitted women in his sangha to learn, teach and preach scientific

progressive thoughts in society. And so, Dr. Ambedkar says, about Buddha's social revolution. The first social reformer and the greatest of them all is Gautam Buddha. Any history of social reform must begin with him and no history of social reform in India will be complete which omits to take account of his great achievement.2

While writing down about the degradation of women through 'Manusmruti' Dr. Ramchandra Varma writes down in his book 'Bhartiya Achar Sahita Ka Vishvkosh' that many

inhuman rules were made in manusmruti for Dalit men and women. And not only for Dalit men and women but also for all Indian women. Women were forcely degraded through the inhuman rules of manusmruti. It is mentioned in manusmruti that "Pita rakshatee Kaumare, Bharta rakshatee yauwane. Rakshantee sthawire patra. Na stree swatantramahati." It means women would depend on their fathers, husbands and sons, gadually during their childhood, youngerness, and olderness. It means they have no liberty, they should

depend on fathers, husbands and sons

gradually means they have no liberty of rights. [3] Again while writting down about 'manusmruti rules for women Tejsih writes down in his book', Ambedkarwadi stree chintan' that ' Visheel Ramwrutto wa gulthawarua pariwarsit : Upachary streega Sadhyvya Sanat devwatpatee.' It means whether the husband is immoral and he is not honest with his wife as also wife should be moral and honest with her husband. And she should workship her husband like god .4

We can see that how woman was forbidden from her social, natural. rights and fundamental rights. It was said in manusmruti that all the filthy works should be done by woman like cleanning house, preparing cook, and all works related to home of taking care of home should be done by woman. Due to this woman would not get chance to go out of home.5 Like this we can see that woman was completelly forbidden from her

social, natural and fundamendal rights in manusmruti. The woman who was trying to challenge the rules made for women in manusmruti she was boyocotted in society. Actually, woman is only consider for the birth of children, for cooking, for household works etc in Hind religious literatures impact on Indian so called intellectuall also. And so, the great

Indian WTitters like 'Surdas' and 'Tulsidas' also wrote against women in their Hindu religious literatures such as "Tulsidas urote' dhol, gawar, shudra, pashu, nari sab tadan ke adhikari", it means gawar, shudra, animal and woman should be bitten like dhol. The great

Indian poet like Tulsidas also vvrote like this in his 'Ramcharit Manas'.

Like this we can give many evidences from Hindu religious literatures where women are compeletly degraded. Such as it is written in 'Brahmavaivart Puran' that a woman

who makes difference between her husband and god, she does sin of killing cow, Again it is [1]Mitten in 'Bhagawat Puran' that a selfish woman can kill her husband, son and brother also. It is written in 'Jaimineey Brahman' that women are root of all sorrows. It is said in 'satpath Brahman' that a woman should has food after her husband. The vedanta scholars consider women as the root of hell. Shankracharya also consider women as the doer of hellf Like this many Hindu religious literatures writters vvrote against women from time to time.

On the other hand people orally praise woman as she is in the form of ' Durga' She is in the form of ' Swaroswati' but the fact is against of this. Today also Hindu religious treadition give importance to boys as the lamp of race, and girls are degraded. today also we see around us or through the new paper, T. V. Channels, somewhere girls, women are raped, somewhere girls, women are burnt, somewhere girls, women are molested, somewhere they were killed or murdered also.

The question arise that why this all happen with women ? And, the answer is, because she is described so through the Hindu religious literature as the thing of use and throw. Hindu religious literature present women as the thing of use and throw. It reject her all natural rights as

ISSN 2454-7131 (Online)

women. Even when we go through the 'Ramayana' we see that sita was forced to give test of morality. And not aonly 'Ramayana' but also when we

go through the Hindu religious literature like Ramayana, Mahabharta, puran, Ramcharit Manas, and many other Hindu religious literatures, we will find out that women are totaly degraded from their rights. Now here also question arise that women are degraded in Hindu religious literatures but why men also do that type of act in action towards women? The answer is men that types of mentality are prepared through the Hindu religious literatures toward the women. And that types of social system was recommeded from time to time which is in existance today also in Hindu religious literatures as well as in the mentality of men. And so, due to it is in existance in society in different forms. It is alway remind to women that she is a woman, means she is

weak, she should depend on father, brother, husband, son etc, because as men they are strong and superior to women. This is reminded to her from her childhood that she is female and she is weak and inferior to male.

But this is- not true when we go through the history of our country and find out the evidences about the women of our country. when we go through the dravid induc we find out that women were free, they had full liberty like men. women were also earning like men for family, even women •were going for hunting in forest. Children were also known with the name of mother insted of father. Both

men and women were equal and both were taking the responsibility of their family. Dravid induc shows that there was equality, liberty, fraternity and

justice for women. Women were equal to men. They were not degraded, men and women were equal.

But Dravid indus picture changed with the arrival of Aryans to India. They had written many Hindu religious literatures, created many evil. traditions, and spreaded it in society. They made those literatures and traditions, social and religious rules and regulation to slave women, and shrudras and they succeeded also In that.

But our g•eat Indian persons like Buddha broke the chains of women slavery by giving them permission to become bhikkhuni, Buddha applied equality, liberty, fraternity and justice in his Sangha for both bhikkhu and Bhikkhuni. Buddha was the first person who gave women chance of learning and teaching in his Sangha.

In maharashtra jotiba fooley and savitribai fooley also broke the social injustice tradition of keeping women at home only for cooking and taking care of children. They both husband and wife open the first school for girls, and also started to educate girls and women at day time school and evening school.

latter Mahatma Gandh also appealed women to come out of home and social hindu tradition and involve in freedom fight. Many women were involved in Ghandhiji's freedom fight movement for country. Raja Rammohan Roy also strongly oppose to evil hindu tradition to burn widow women on their dead husband's fureral Dr. Ambedkar also strongly opposed to hindu evil social traditions against dalit women and all others. Ambedkar drafted and put Hindu code bill in parliament as Law minister. It was not passed in that time due to the strong oppose in parliament. But latter it begin to implement as different act, like Hindu succession act, Hindu adoption act etc. Ambedkar also gave constitutional safeguard to women. While expressing his viewes about women progress Dr. Ambedakar said, 'Sociaty progress is depend on women progress, and sociaty progress can be counted also by the women progress in society. [7]' And now due to the great dedication of our greeat persons women are making progress in every field of life. But we cant not say that women are completely free from Hindu religious literatures and traditions. Today also there are lot of social ban on women, and if we want to make complet inclusion of dalit and other women in every field of progressive and happy life. It is need of time to destroy literatures and traditions. which are against Dalit women and all other women, and change the society view toward women preaching and teaching our great parson thought among them of equality, liberty, fraternity and justice.

Conclusion :

When we go through Indian History we find out that Aryan people came from out side on induc valley and they attacked Indian people. Due to Aryan were with weapons and horses they could win the battle against Indian People. After Aryan won against Indian people they made slave to Indian. Mostly they made slave to all Indian women through the different religious literatures and traditions. After many years Buddha opposed to the injustice against women and challenged to slavery of women. Buddha gave permission to women •to learn, teach and preach through his Buddhist Sangham. Latter Jyotiba Fooley,

Savitribai Fooley, also open the girls school educated girls and women at day and evening school, After that Mahatma Gandhi also appeal to women to envolve in freedam fight against British. Latter Rajaram Mohan Roy also opposed to the slavery of women. Dr.

do this we can not forbid the exclusion of Dalit and other women in every progressive field of life,

Reference Books :

1. Aglawe Vijay, Dhamma Chakra Pawartan Ke Bad ke Parivartan, Samyak

Ambedkar also gave safeguard to women through the Hindu Code Bill and Indian Constitution. Now It is our duty to preach our great persons thoughts among the people to change their mentality towards women. It is also necessary necessary to destroy all the Hindu religious literatures and traditions to the inclusion of women in the every field of life. Untill and unless we Indian will not

Pub lication, New Delhi, p.32

2. Ambedkar B. R., Revolution and Countre Revolution in Ancient India www.google.com.p.10
3. Shastri Ramchandra Varma, Bhartiya Achar-Sahita Ka Vishvkosh, Vidya Vihar Publication, New Delhi P. 334

4.Sih Tej. S. Ambedkarwadi Strichintan, Swaraj prakashan, New Delhi, P. 42

5. Ibid. p. 334
6. Ibid. p. 43

7.Sih Tej. S. Ambedkarwadi Vichardhara our samaj, Swaraj Prakashan New Delhi, P. 211

साखी
प्रेमचंद साहित्य संस्थान का त्रैमासिक H-1/2 वरिष्ठ, बी.एच.यू. वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

'साखी' एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र का संयुक्त आयोजन

राष्ट्रीय संगोष्ठी

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता, 'हंस' और राजेन्द्र यादव

दिनांक : 20-21 अक्टूबर 2016

राधाकृष्णन सभागार, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/डॉ० ..चिलवंत प्रकाश गोरखा, शोध छात्र.......... हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने 'साखी' एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की तथा ....'राजेन्द्र यादव की नजर में स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास : एक विवेचन'.......... विषयक शोध पत्र प्रस्तुत किया।

2015 - 2017 Centenary

प्रो० अवधेश प्रधान
सह समन्वयक

प्रो० सदानन्द शाही
समन्वयक

महात्मा बसवेश्वर शिक्षण संस्था, लातूर द्वारा संचलित

महात्मा बसवेश्वर महाविद्यालय, लातूर

(कला, वाणिज्य, विज्ञान एवं समाजकार्य)

महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी (पर्यटन एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग, महाराष्ट्र राज्य) | **केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा** मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरका

तथा

स्वामी रामानंद तीर्थ मराठवाडा विश्वविद्यालय, नांदेड

के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित

द्वि-दिवसीय हिंदी-मराठी राष्ट्रीय संगोष्ठी

'दलित विमर्श : हिंदी तथा मराठी नाटक-रंगमंच'

दिनांक : 13,14 फरवरी 2015

प्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है,

प्रा./डॉ. प्रकाश चिलवंत, शोध छात्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैद

महात्मा बसवेश्वर महाविद्यालय,लातूर, हिंदी भाषा एवं साहित्य अनुसंधान केंद्र द्वारा आयोजित द्वि-दिवस राष्ट्रीय संगोष्ठी 'दलित विमर्श : हिंदी तथा मराठी नाटक -रंगमंच' में प्रतिभागी/शोध आलेख वाचक/वक् के रूप में सहभागी होकर संगोष्ठी को गरिमा प्रदान की, एतदर्थ यह प्रमाणपत्र दिया जाता है।

डॉ. विजयकुमार रोडे
संयोजक एवं अध्यक्ष
हिंदी भाषा एवं साहित्य अनुसंधान केंद्र

डॉ. चंद्रदेव कवडे
सदस्य
महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई

डॉ. उमाकांत बिरादार
प्राचार्य
महात्मा बसवेश्वर महाविद्यालय, ला